गबन : एक अध्ययन

[स्व० श्री प्रेमचंदजी के श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास का
आलोचनात्मक अध्ययन]

लेखक
प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०

पंचम संस्करण

प्रकाशक
विद्यामंदिर, रानीकटरा, लखनऊ

प्रथम संस्करण : जून, १९४५
पुनर्मुद्रण : जनवरी, १९४७
,, : जनवरी, १९५१
,, : जनवरी, १९५५
,, : जनवरी, १९५८

मूल्य—दो रुपया

मुद्रक
विद्यामंदिर प्रेस, लखनऊ

❀ निवेदन ❀

(पंचम संस्करण के संबंध में)

प्रस्तुत पुस्तक बारह-तेरह वर्ष पहले लिखी गई थी। अब तक इसके पाँच संस्करण हो चुके हैं। पुनर्मुद्रण के समय यद्यपि किसी बार भी मैं इसको परिवर्धित रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका, तथापि कुछ न कुछ नयी सामग्री प्रत्येक बार बढ़ती रही है। इस संस्करण में भी कुछ आवश्यक बातें बढ़ा दी गयी हैं। आशा है, अपने इस रूप में यह 'अध्ययन' और भी उपयोगी सिद्ध होगा।

(प्रथम संस्करण से)

'गबन' की गणना यों तो प्रेमचंद की श्रेष्ठ कृतियों में है; परंतु मध्यवर्गीय वर्तमान स्थिति का परिचय देने की दृष्टि से यह उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना मानी जाती है। यथार्थवादी लेखक के रूप में प्रेमचंद जी संभवतः अपनी इसी कृति में सर्वप्रथम मिलते हैं। यह भी इस रचना की एक उल्लेनीय विशेषता है।

❀ विषय-सूची ❀

गबन : एक अध्ययन

परिचयात्मक आलोचना

सन् १९३० तक प्रेमचंद जी कई प्रसिद्ध उपन्यासो की रचना कर चुके थे। साहित्य में उनका पद प्रतिष्ठित हो चुका था। वे उपन्यास-सम्राट बन चुके थे। साहित्य-प्रेमी और उपन्यासों के पाठक उनमे बड़ी-बड़ी आशाएँ कर रहे थे। इसी समय सन् १९३१ में उन्होने 'गबन' प्रकाशित कराया। इस उपन्यास का संबंध भारत के उस मध्यम वर्ग से है, जो आर्थिक संकट सहकर भी सामाजिक क्षेत्र में अपनी नाक बचाने के लिए ऋण लेने और अंत में अपना भावी जीवन दुखमय बनाने पर विवश-सा हो गया है; फैशन का भूत जिसके सर पर सवार होकर तरह-तरह के त्रास देता है और फलस्वरूप जिसका शरीर और मन चिंता से जर्जर हो रहा है। वर्तमान समय की स्थिति ने पैसे वाले को ही सुखी बना रखा है। इसलिए अच्छे और बुरे, उचित और अनुचित किसी भी ढंग से पैसा पैदा करना ही आज समाज का आदर्श हो रहा है। 'गबन' में हम देखते हैं कि ईमानदारी से पैसा पैदा करनेवाले व्यक्ति से उसकी स्त्री नाराज है, पुत्र नाराज है और पतोहू भी नाराज है। प्रसन्न सब लोग उसी से हैं जो झूठ बोल कर, चालाकी करके, घूस लेकर अथवा भोले-भाले व्यक्तियों को उल्टे छुरे से मूड़ कर अधिक से अधिक धन कमा ला सकता है।

उपन्यास में उक्त निष्कर्ष तक हम परोक्ष रूप से पहुँचते हैं। प्रत्यक्ष कथानक कुछ और संकेत करता है। आभूषण चाहनेवाली एक नवयुवती इसकी नायिका है। बालिकाओं या नवयुवतियों के लिए आभूषणों की यह चाह नितांत स्वाभाविक है। जीवन में किसी वस्तु का अभाव उसकी ओर हमें और भी आकर्षित कर देता है। उपन्यास की नायिका जालपा की भी जड़ाऊ हार की चाह इसीलिए बढ़ गयी कि वह उसे ससुराल से न चढ़ा। उसका पति रमानाथ शिक्षित है, युवक है, नयी रोशनी का है और प्रेमी भी है। अपनी सुंदर स्त्री के सामने अपने घर की दीन दशा कहते तो वह शरमाता है ही, साथ ही, अपने ऐश्वर्य की झूठी कहानी गढ़ कर उसे सुनाते जरा नहीं हिचकिचाता। नववधू उसकी बातों का विश्वास करके अपनी चाह प्रकट करती है। रमानाथ उसकी इच्छा पूरी करना चाहता है। पर दफ्तर में वह मामूली क्लर्क है; इसीलिए अपनी बात रखने, अपनी शान निभाने के लिए वह उधार गहने लाने को विवश होता है। उधर नववधू का साथ एक धनी वकील की स्त्री से हो जाता है। रमानाथ अपनी शान बढ़ाने के विचार से धनियों की तरह अपनी स्त्री का रहना, घूमना, चाय-पानी करना, सब कुछ स्वीकारता है। अंत में ऋण न दे सकने के कारण, उस पर इतने तकाजे होते हैं कि उसका घर से निकलना मुश्किल हो जाता है। दो-एक ऐसी ही उलटी-सीधी चालें चलने के बाद आफिस से गबन करके वह घर से भाग खड़ा होता है।

उपन्यास की कथा तो यहाँ से आगे बढ़ती है; परंतु रमानाथ का चरित्र यहीं से समाप्त हो जाता है। जब तक हमारा पैर कीचड़ में नहीं पड़ता, हम अपने को उससे दूर रखना चाहते हैं। जब एक बार हम कीचड़ में फँस जाते हैं तब आगे भी उससे

घृणा नही करते। रमानाथ भी अब बुराई से नहीं डरता। वह झूठ बोल सकता है, भीख माँग सकता है, निरपराधों को फँसा सकता है, यहाँ तक कि वेश्या के हाथ की कठपुतली बनने में भी उसे संकोच नहीं होता। लेखक ने अब उसे सँभालने की आवश्यकता नहीं समझी है। शायद वह चाहता है कि ऐसे युवक की जो बुरी से बुरी दशा हो सकती हो, रमानाथ सब भुगत ले।

परंतु जालपा का चरित्र यहीं से उन्नत होता है। 'धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी, आपत् काल परखिए चारी'—वाली बात इसी स्थल से जालपा के सामने आती है। पति के घर से भागने का कारण ज्यों ही उसे मालूम होता है, वह अपने शृंगार की फैशनवाली चीजें गंगा में प्रवाहित कर देती है। यह हिंदू नारी की एक झलक मात्र है। वह फैशन की चीजो पर नहीं मरती, पति को चाहती है। आरंभ में उसे गहनों की चाह अवश्य थी; परंतु पति का सच्चा प्रेम पाकर वह पूर्णतः संतुष्ट हो गयी थी और यदि रमानाथ ने अपनी कल्पित समृद्धि का अत्यंत आकर्षक चित्र न खींचा होता तो वह गहनो के लिए उससे कदापि आग्रह न करती। 'गबन' मे जो कुछ भूल हुई है, उपन्यासकार ने उसका दोषी रमानाथ को ही ठहराया है—उसकी नायिका सर्वथा निर्दोष है। फिर भी जालपा अपने को ही दोषी समझती है और उसके प्रायश्चित के लिए कठोर से कठोर दंड स्वीकारने को प्रस्तुत है। पति का पता लगाने और पुलिस के कठोर, भयंकर और विषैले पंजो से उसे बचाने के लिए जिन-जिन युक्तियो से काम करके चतुरता का तथा विवश पति की झूठी गवाही के फलस्वरूप चौपट हुए निर्दोष और कच्चे परिवारों की सभी प्रकार से सेवा करके जिस महान सहनशीलता का उसने परिचय दिया है, वह प्रेमचंद जी के श्रेष्ठतम उपन्यासों की

नायिकाओं के लिए भी दुर्लभ है। जालपा के चरित्र की यही विशेषता है जिसने 'गबन' को प्रेमचंद के श्रेष्ठ उपन्यासों में उच्च स्थान दिलाया है।

उपन्यास के अन्य पात्रों में जग्गो, रतन जोहरा, रमेश और देवीदीन है। इनके चरित्रों का चित्रण भी लेखक ने बड़े परिश्रम से किया है और सभी के विचारों और आदर्शों से हम थोड़ा-बहुत प्रभावित अवश्य होते है। परंतु इनमें सबसे प्यारा और आकर्षक चरित्र देवीदीन का है। जाति का वह खटिक है। कभी कभी वह नशा-पानी भी कर लेता है जिसके लिए उसकी स्त्री बराबर ताड़ना दिया करती है। परंतु अतिथि-सत्कार की वह महान भावना, जो भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता, समृद्धि तथा ऐश्वर्य की अधिकता की द्योतक है, सरलता और सत्यप्रियता की वह महान भावना, जो भारतीय जीवन की नैसर्गिकता और पवित्रता की द्योतक है, और निस्वार्थ देश-प्रेम की वह महान भावना, जो मातृभूमि के प्रति स्वकर्तव्य-पालन और ऋण-स्वीकृति की द्योतक है, उसके चरित्र को बहुत सुंदर बना देती है।

प्रश्न यह है कि प्रेमचंद के ये पात्र क्या कल्पित हैं? जीवन भर समाज और व्यक्ति का गंभीर अध्ययन करनेवाले प्रेमचंद ने इन पात्रों की सृष्टि अपनी कल्पना द्वारा की है, अथवा वे हमारे देश के ही ऐसे प्राणी हैं जिन्हे हम अपने चारों ओर नित्यप्रति देखते हैं। हमारी सम्मति में, रमानाथ, जालपा, देवीदीन, जग्गो और रतन दिन प्रति हमारे संपर्क में आते हैं और अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधि है। रमानाथ के चरित्र में, संभव है, किसी को अस्वाभाविकता मिले, और यह पूछा जाय कि पढ़ा-लिखा चतुर युवक कैसे एक के बाद दूसरी गल्ती करता और अपने पैर में कुल्हाड़ी मारता चला जाता है। वस्तुतः उसकी दशा उस

भोले हिरन की सी है जो एक बार जाल में फँसकर उससे छूटने की जितनी ही कोशिश करता है, उतना ही उलझता जाता है।

यही बात कथानक और उन सामयिक समस्याओं के संबंध में कही जा सकती है, जिनके विषय में 'गबन' के लेखक ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विचार किया है। संभव है, पुलिस के हथकंडों और कचहरी की कार्यवाही में कुछ बातें घटा-बढ़ाकर कही गयी हों, परंतु लेखक ने इन पर 'लगे हाथ' ही कुछ कह दिया है। वर्तमान समय में मध्यम वर्ग की स्थिति, अतिशय आभूषण-प्रेम, अनमेल विवाह, फैशन का भूत, स्वदेशी आंदोलन आदि गंभीर बातों पर ही लेखक ने कई दृष्टियों से विचार किया है। इनका वर्णन अत्यंत मार्मिक, प्रभावोत्पादक और सजीव है। उपन्यास की सफलता का एक कारण यह भी है।

'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' जैसे उपन्यासों के प्रौढ़, कुशल और सफल लेकक की भाषा की प्रांजलता, प्रौढ़ता और प्रवाह पूर्णता; शैली की उपयुक्तता, प्रभावोत्पादकता और यथावसर परिवर्तनशीलता तथा कथोपकथन की मार्मिकता, स्वाभाविकता और सजीवता के संबंध में स्वतंत्र रूप से आगे विचार किया जायगा।

सारांश यह कि 'गबन' लेखक की सफल रचना है। प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों से इनका कथानक भिन्न है, यद्यपि कहीं-कहीं सामयिक समस्याएँ पूर्व उपन्यासों की भी अपना ली गयी है। विषय की प्रतिपादन-प्रणाली भी इस उपन्यास की भिन्न है। अन्य उपन्यासों में प्रेमचंद समुदाय को लेकर चले हैं और वर्ग की समस्याओं पर बिचार किया है; 'गबन' की समस्या एक प्रकार से व्यक्तिगत है और एक परिवार तक ही सीमित रहती है।

यह ठीक है कि समस्त मध्यम वर्ग आज फैशन, अति आभूषण-प्रेम और आर्थिक संकट से पीड़ित है, परंतु उपन्यास में हम केवल एक परिवार को ही इनका फल भोगते हुए देखते हैं—पूरे परिवार को भी नहीं केवल एक दंपति को ही। हाँ, जिन बातों को लेकर कथानक का विकास दिखाया गया है, वे सार्वजनीन और सार्वकालीन हैं। लेखक ने मानव-हृदय की अनेक भावनाओं—सुख-लालसा, ऐश्वर्य की चाह, पति-पत्नी-प्रेम आदि—का सुंदर विश्लेषण किया है। इसी से 'गबन' को हम हिंदी-उपन्यास साहित्य की स्थायी चीज समझते हैं।

———

अध्यायों का साहित्यिक अध्ययन

अध्याय एक—साधारण परिचयात्मक दृश्य जिसका सबसे महत्वपूर्ण वाक्य है—'बहू जी, चार दिनों में तो बिटिया को असली चंद्रहार मिल जायगा'। बड़ी-बड़ी आँखोंवाली बिटिया इस कथन का अर्थ नही समझती—समझना भी नहीं चाहती; क्योंकि अपनी 'बाल-संपत्ति'—बिल्लौर के चमकदार हार—को पाकर ही उसके आनंद की सीमा नहीं है। हाँ, माता के हृदय-पटल पर सहृदयता-भरे ये शब्द अंकित हो जाते है और पाठक की उत्सुकता भी बढ़ती है।

दो—बिल्लौर का नकली हार पाकर फूली न समानेवाली बालिका जालपा जब माता का 'चंद्रहार' देखती है, तब उसके मन में भी असली हार की चाह पैदा होती है। माता ने मुस्कराकर उससे कहा—तेरे लिए ऐसा हार तेरी ससुराल से आयगा। यह सुनकर किशोरी जालपा यद्यपि लजाकर भाग जाती है, परंतु उसके किशोर हृदय-पटल पर ये शब्द अंकित हो जाते हैं। पाठक भी जालपा के साथ उस दिन की प्रतीक्षा करने लगते हैं जिस दिन उसकी चिरसंचित अभिलाषा पूर्ण होगी। लेखक ने—'लेकिन ससुराल से हार न आया तो'—कहकर पाठक की उत्सुकता बढ़ा दी है।

तीन—जालपा के ससुर, पति और सास का परिचय। उनकी आर्थिक स्थिति की चर्चा से लेखक का संकेत है कि चंद्रहार की तो बात दूर, नववधू के लिए साधारण गहनों का भी प्रबंध उधार के बल पर ही किया जा सकेगा। अपनी खोखली स्थिति

से परिचित दूरदर्शी और धर्मभीरु पिता दयानाथ का पुत्र के विवाह के लिए आरंभ में सहमत न होना और वात्सल्यमयी माता जागेश्वरी का उनके तर्कों को हवा में उड़ा देना—लेखक की पुरुष और नारी-प्रकृति के सूक्ष्म परिज्ञान का सूचक है। युवक रमानाथ के स्वभाव का परिचय लेखक ने जिन शब्दों में दिया है, उससे भी उसके सूक्ष्म निरीक्षण का पता चलता है।

चार—शील और सौजन्य का प्रभाव बड़े आकर्षक ढंग से इस दृश्य में दिखाया गया है। दीनदयाल ने एक हजार का टीका दिया ; इसलिए नहीं कि वे लड़की का विवाह दिल खोल कर करना चाहते हैं या सोचते हैं कि मेरे आगे-पीछे कोई नहीं है, सब हौसला एक बार ही क्यों न निकाल लूँ ; बल्कि इसलिए कि दयानाथ की सज्जनता ने उन्हें वशीभूत कर लिया। पचास रुपए मासिक पानेवाला कचहरी का क्लर्क दयानाथ, जो पहले तो लड़के की शादी ही नहीं करना चाहता था, बहू के लिए तीन हजार के गहने बनवा लेता है, इसलिए नहीं कि उसमे उत्साह है, हौसला है, बल्कि इसलिए कि दीनदयाल की सहृदयता ने उसका संयम तोड़ दिया है। रमानाथ और उनके साथियों की व्यय-संबधी उच्छृंखला और दयानाथ का भीतर ही भीतर चिंतित होने पर भी उन्हें रोक न पाना—दोनो बातें स्वाभाविक हैं। जोड़े-गहने के लिए और बारात की धूम-धाम में बहुत कुछ खर्च हो जाने पर भी चंद्रहार का प्रस्ताव रह ही हो जाता है। जिस चंद्रहार की आशा जालपा आठ वर्ष से लगाये है, उसे न पाकर उसकी क्या दशा होगी, पाठक यह जानने को उत्सुक हो जाता है।

पाँच—जालपा का विवाह। चढ़ावे में चंद्रहार न आने से आशा-लता पर तुषारपात, जिससे आगे की कथा जानने के लिए

उत्सुकता बढ़ती है। चढ़ावे के समय गाँव के स्त्री-पुरुषों द्वारा 'विशेपज्ञों की भाँति' आभूषणों की आलोचना करवाकर लेखक ने जन-मनोवृत्ति की जानकारी का परिचय दिया है। चढ़ावे के अवसर पर हमसहेलियों की बातचीत में चंद्रहार के अभाव के कारण रस नहीं रह जाता; परंतु शहजादी का जालपा को मान करने का 'गुर सिखाना' हर्ष के इस अवसर पर पाठकों को गुदगुदा अवश्य देता है, यद्यपि जालपा के प्रति सहानुभूति के कारण वे खिलखिला कर हँसना पसंद नहीं करते।

छह—विवाह जैसे शुभ अवसरों पर बिरादरी में नाक कटने के डर से या वाहवाही लूटने के लोभ से, अपनी हैसियत से ज्यादा खर्च कर लेने का परिणाम है पारिवारिक कलह, मानसिक अशांति और पश्चाताप—यही इस अध्याय मे दिखाया गया है। स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण की दृष्टि से यह दृश्य सुंदर है। वादे पर ऋण अदा न करने की संभावना न होने पर सीधे-सादे स्वभाववाले दयानाथ की स्थिति का चित्रण लेखक के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचायक है। रमानाथ के चित्रण में नवविवाहित युवक की प्रकृति का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। ऊपर की आमदनी को पाप समझनेवाले दयानाथ की खिल्ली उसकी पत्नी और उसका पुत्र उड़ाता है—उनके वक्तव्यों से सामयिक समाज की मनोवृत्ति का यथार्थ परिचय मिलता है। गाँव की युवती जालपा शहर में आकर एक ऐसे वातावरण में प्रवेश करती है जहाँ उसके लिए अभाव ही अभाव है जिसकी पूर्ति 'रामनाथ मीठी-मीठी बड़ी-बड़ी बातों से' ही कर पाता है।

दृश्य के अंत में नव-विवाहिता जालपा के गहने चोरी से उठा लाने का प्रस्ताव रमानाथ के मुँह से सुनकर और दयानाथ के मौन से उसका समर्थन देखकर पाठक स्तब्ध रह जाता है।

जिस नववधू ने एक चन्द्रहार न पाकर ही कोई गहना न पहनने का निश्चय कर लिया है, वह सभी गहने खोकर किस प्रकार जीवित रहेगी यह जानने के लिए पाठक की जितनी उत्सुकता बढ़ती है, उससे कहीं अधिक उत्सुक वह यह जानने के लिए है कि अपनी भोली-भाली पत्नी को केवल मीठी-मीठी बातों से ही बहला सकनेवाला रमानाथ क्या उसके कोमल हृदय पर विश्वासघात का इतना मार्मिक आघात करेगा ?

सात—जेठ की सुनहरी चाँदनी जो खुली छत पर नवदंपति को उन्मत्त बना देती है। पति का गजरों से पत्नी को फूलों की देवी बनाना, फूलों के शीतल स्पर्श से जालपा के शरीर में गुदगुदी-सी होना, उन्हीं फूलों की भाँति उसके एक-एक रोम का प्रफुल्लित हो जाना, आइने के सामने खड़े होने पर, नशे की तरंग में अपने को जालपा का फूलों की देवी समझना, सब कुछ नवदंपति का बहुत स्वस्थ प्रेमाचरण है। प्रेम के आवेश में अपने सुंदर पति को देखकर जालपा के मन में विवाह के अवसर की सुखद स्मृतियों का सजग हो जाना भी बहुत सुंदर और सार्थक है। नशे के प्रभाव से ही जालपा के मान को बहुत टिकाऊ न चित्रित करना—'जाओ, मैं तुमसे न बोलूँगी। रोज हीले-हवाले करते हो। अच्छा, कल ला दोगे न' ?—लेखक की बहुज्ञता का सूचक है।

सरल बालिका के प्रति कपटाचरण की योजना बनानेवाले नवयुवक पति रमानाथ की मानसिक स्थिति का चित्रण भी लेखक ने बड़े कौशल से किया है।

आठ—आरंभ में 'आभूषण-मंडित' संसार में पली जालपा के बाल्यकाल की चर्चा करके उसके आभूषण-प्रेम की स्वाभाविकता सिद्ध की गयी है। अंतिम भाग में निठल्लापन छोड़ कर रमा

का नौकरी करने को प्रस्तुत हो जाना नये जीवन में पदार्पण करने का संकेत है।

नौ—रमेश बाबू का परिचय जिनकी दिनचर्या में क्लर्कों के उद्देश्य-आदर्शहीन जीवन की झलक मिलती है।

दस—जालपा की प्रकृति का नया परिचय। पति के नौकर होते ही उसका स्वाभिमान जागता है। माता के भेजे हार को वह भीख समझती है और उसे लौटा कर ही शांत होती है। सास-ससुर के प्रति घृणा या तिरस्कार की भावना उसमें हैं; परंतु इस संबंध में लेखक का संकेत है कि इसका कारण है उनकी आर्थिक स्थिति के संबंध में जालपा का वह भ्रम जो रमा की झूठी डींग के फल-स्वरूप जन्मा था।

ग्यारह—जालपा की विवशता और निराशा का, जिन्हे वह प्रयत्न करके दबाना चाहती है, लेखक ने यहाँ सूक्ष्मता से चित्रण किया है।

बारह—जालपा की मनोव्यथा का परिचय देकर लेखक उसका चरित्र सम्हाल लेता है। कर्ज की भयानकता न समझने वाला रमा अब अपने सर पर बोझ लादने को ही तैयार हो जाता है। उसके इस कार्य से पाठक की उत्सुकता बढ़ती है।

तेरह—प्रथम बार कर्ज लेनेवाले व्यक्ति का संकोच जो मन में उठनेवाले आनंद के भाव को भी दबा देता है। सर्राफ की फँसानेवाली बातें, पति के ऊपरी कमरे में चले जाने पर जालपा का स्वयं इस तरह नीचे रह जाना जैसे वह भूल गयी हो कि रमा हार लेने गया था और पति का स्त्री का दिल टटोलने के लिए हार न मिलने का बहाना करना आदि प्रसंग परिच्छेद को मनोरंजक बनाने के लिए पर्याप्त हैं।

चौदह—मध्यम वर्ग की माता के, जो जीवन भर दुखिया

रही है और जीवन में जिसकी कोई साध पूरी नहीं होती, आभूषण-प्रेम और वात्सल्य का मार्मिक द्वंद्व तथा परिस्थिति और प्रेम का भीषण संघर्ष यहाँ दिखाया गया है। दो नये आभूषण देखकर जालपा के सेवा-भाव-प्रधान हृदय का संयम किस प्रकार नष्ट होता है और भविष्य की ओर से आँख मूँद कर किस प्रकार पति पर वह लंबा बोझ कर देती है, कथा की भावी गति-विधि से इन बातो का घनिष्ठ संबंध है।

पंद्रह—पुराना रहन-सहन अपनानेवाला मध्यम वर्ग का परिवार थोडा रूप और थोड़ा धन पाकर नयी रोशनी के चक्कर में किस तरह पड़ता है, कैसे-कैसे नये शौक मन में पैदा होते हैं, किस प्रकार अनिच्छा से वह बड़े आदमियो का निमंत्रण स्वीकरता है और परिचय हो जाने के बाद ऊपरी लेसा-पोती से किस तरह अपनी मर्यादा निबाहने का वह प्रयत्न करता है, आदि बातें इस अध्याय में हैं। रतन का कगन के लिए रुपए और जालपा का उसे निमंत्रण देना, दोनो बातें आगे की कथा से संबंध रखती हैं। घर सजाने के मामले को लेकर अँगरेजो की नकल करने की चाह रखनेवाले मध्यवर्गीय पुरुषो के हौसलो की लेखक ने मीठी चुटकियाँ ली हैं।

सोलह—अदूरदर्शिता के परिणामस्वरूप रमा को रतन से मुँह चुराना पड़ता है। मिथ्या आत्माभिमान उसके लिए कितना भयानक गढ़ा खोद रहा है, इसकी यह जरा भी चिंता नहीं करता। जालपा अपनी बुद्धि से उसकी दुश्चिंता का अनुमान कर लेती है ; परंतु रमा इस पर भी साहस और निष्कपटता से काम नहीं लेता ; रतन के रुपए अदा करने के लिए निर्धन रमा का दस दिन का वायदा पाठको की उत्सुकता बढ़ाता है।

सत्रह—साधारण कथा-प्रधान दृश्य। 'मित्रो से लेन-देन के

व्यवहार का परिणाम मनमुटाव होगा', यह एक संकेत रमेश के पत्र से मिलता है। रमा अपना ऋण कैसे अदा करेगा, यह जानने के लिए उत्सुकता बढ़ जाती है और पाठक आगे का हाल जानने के लिए विकल हो उठता है।

अठारह—रतन की दी हुई मोहलत का अंतिम दिन। रमा की संकोची प्रकृति और मानसिक स्थिति का लेखक ने बड़े धैर्य से चित्रण किया है। रात्रि में जालपा के स्वप्न की भयानकता जहाँ उसे भयभीत करती है वहाँ किसी दिन रमा पर आनेवाली विपत्ति की सूचना देकर पाठकों को भी चौंकी देती है। दृश्य के अंत में जालपा का प्रेमयुक्त गर्व के स्वर में अपने सुख-सौभाग्य और संतोष की कहानी कहना रमा को सम्हलने के लिए अंतिम अवसर देता है; परन्तु वह इस बार भी चूक जाता है।

उन्नीस—अदूरदर्शी और अनुभवहीन रमा ने संकोचवश अपनी स्त्री से जो पर्दा किया और शान जमाने के लिए हैसियत से ज्यादा जो व्यय किया उसका फल उसे आज भुगतना पड़ता है जब पिता के सामने ऋण का सारा भंडा फूट जाता है। परंतु इतने पर भी उसे अपना रंग-ढंग बदलते न देख—पत्नी जालपा से पूर्ववत् परदा करते देख—पाठक को निश्चय हो जाता है कि इसके भाग्य मे दुख भोगना ही बदा है।

बीस—रतन के आभूषण-प्रेम की चर्चा करके लेखक धनी वर्ग के उस पारिवारिक जीवन के संबंध में संकेत करता है जहाँ बूढ़े पति के पास युवती पत्नी को प्रसन्न करने के लिए धन के सिवा और कोई साधन नहीं है। रमा के भाग्य का निर्णय जानने के लिए पाठक की उत्सुकता बढ़ती है; परंतु उसे घोर अंधकार में प्रकाश की कोई रेखा नहीं सूझती।

इक्कीस—जालपा के स्वप्न की चर्चा करके लेखक उसकी

विचारशीलता से रमा को प्रभावित करता है। स्पष्ट है कि रमा पर जो विपत्ति आयी, घर छोड़कर उसे भागना पड़ा, इसके लिए स्वयं वही दोषी है, पत्नी जालपा नहीं; यद्यपि इसी को प्रसन्न रखने के लिए रमा ने उधार गहने बनवाये थे। रेल में देवीदीन से रमा की भेंट करा कर लेखक उसे शीघ्र ही भविष्य की ओर से निश्चित कर देता है; अपने नायक को कलकत्ते-जैसे विशाल नगर में भेज कर ठोकरें खाने के लिए कदाचित वह उसे निरा-श्रित नहीं रखना चाहता। देवीदीन का चरित्र विशेषतायुक्त है। उसका अनुभव-जन्य ज्ञान रमा जैसे अदूरदर्शी और अनुभवहीन युवक को प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है।

बाईस—जालपा की सूझ-बूझ का परिचय। 'तुम बड़े वक्त से आ गयीं। इस वक्त तुम्हारी सूझ-बूझ देखकर जी खुश हो गया। सच्ची देवियों का यही धर्म है'—रमेश बाबू के इस प्रशंसा-पत्र से लेखक का संकेत है कि शिक्षित और स्वतंत्र वातावरण में पली हुई देवियाँ अवसर पर ऐसे ही महत्वपूर्ण काम कर सकती हैं।

तेईस—जालपा के स्वाभिमान से हम यहाँ परिचित होते हैं। सास-ससुर की व्यंग्योक्तियाँ सुन कर भी सखी रतन से उनकी शिकायत न करना और कंगन वेचते समय दीनता प्रकट न होने देना, दोनों बातें उसके चरित्र को ऊपर उठानेवाली हैं।

चौबीस—जालपा के स्वाभिमान का दूसरा परिचय उस समय मिलता है जब वह पिता दीनदयाल के साथ मायके जाना या उनसे किसी तरह की सहायता लेना अस्वीकार कर देती है। दूसरों को सता कर लाये हुए पैसों से खरीदी गयी विलासिता और फैशन की सारी चीजें बटोर कर गंगा में डुबा देने के पश्चात उसके जीवन में नवीनता का सूत्रपात होता है। युवा-वस्था की उन्मादभरी विलास-प्रियता पर, पहली ठोकर खाने पर.

जालपा की यह विजय, रमा के घर से भागने के कारणों में उसके दोषों के अंशों की ओर से पाठक का ध्यान बहुत-कुछ हटा देती है। गङ्गा के मार्ग में रतन से भेंट कराना भी सोद्देश्य है। लेखक चाहता है कि जालपा की दृढ़ता की परीक्षा ले ली जाय; पता हो जाय कि केवल आवेश में ही नहीं, प्रत्युत दुर्बलता पर सच्ची विजय पाकर ही जालपा विलास-भावना से मुक्त हुई है। आगे के जीवन में उसकी यह दृढ़ता बनी रहेगी या नहीं, यह जानने के लिए हम उत्सुक हैं।

पचीस—निर्वासित जीवन में रमा की पौरुषहीनता और अकर्मण्यता का परिचायक दृश्य जिसमें उसने 'जन्मजन्मांतर की संचित मर्यादा' की हत्या करके ब्राह्मण बनकर दान लिया; अपने आत्माभिमान पर आघात किया। रतन को सामने पाकर भी रमा का पुनः मोह में फँस जाना इसकी भद्दी मूर्खता ही है जिसका समर्थन वह किसी तर्क से नहीं कर सकता। सेठ करोड़ीमल का प्रसंग लेखक ने संभवतः पूँजीपति-वर्ग के प्रतिनिधियों के दोहरे जीवन पर प्रकाश डालने के लिए अपनाया है।

छब्बीस—चरमसीमा तक पहुँचकर कथा यहाँ से अन्त की ओर बढ़ती है। रमा के 'गबन' का हाल देवीदीन को मालूम होता है और पुलिस द्वारा कहीं भी पकड़े जाने की आशंका उसे प्रतिपल भयभीत कर देती है। देवीदीन इस भय पर विजय पा सकता है; क्योंकि उसे मालूम है कि 'रुपए में बड़ा जोर है', पर रमा एक तो चोर और दूसरे अनुभवहीन होने के कारण बहुत डर जाता है।

सत्ताइस—रमा के व्यवसाय का कलकत्ते में प्रबन्ध। कलकतिया युवकों की शतरंजी नक्शे वाली बातों से युवक-प्रकृति का परिचय मिलता है।

अट्ठाइस—रतन और जालपा की परिस्थितियों के अन्तर का प्रश्न हटाकर लेखक ने दोनों हृदय एक कर दिये है; उन्हे बहनापे के सच्चे संबंध सूत्र में बाँध दिया है।

उन्तीस—वकील साहब के अन्तिम जीवन की एक झलक। मरते हुए व्यक्ति की विकलता और वृद्ध पति की मृत्यु-आशंका से युवती पत्नी के मनोभावों की व्यथा का चित्रण लेखक ने सतर्कता से किया है।

तीस—युवती रतन के वृद्ध पति के जीवन-दीपक-निर्वाण का मार्मिक चित्रण।

इकतीस—मृत वकील के सम्बन्धी और उत्तराधिकारी भतीजे मणिभूषण का परिचय।

बत्तीस—रतन और जालपा एकमत होकर रमा का पता लगाने के लिए 'शतरंज' का नक्शा छपाने का प्रस्ताव करती है। दयानाथ के स्वभाव की विचित्र अधीरता का चित्रण विपत्ति और उदासी के सूने वातावरण में भी पाठक को हँसा देता है।

तेंतीस—कथा-प्रवाह की छोटी-मोटी सभी धाराएँ एकत्र होकर यहाँ से आगे बढ़ती हैं। रमा कलकत्ते मे पुलिस के हाथ में पड़ जाता है।

चौंतीस—पुलिस के हथकंडों का परिचायक दृश्य। रमा को पुलिस ऐसे अवसर पर पा जाती है जब उसके-से पढ़े-लिखे अच्छे से कुल के एक युवक की उसे आवश्यकता है। जीवन के अनुभवों से अपरिचित रमा पुलिसवालों की बातों से सहमत हो जाता है। देवीदीन और जग्गो का वात्सल्य इस अध्याय की विशेषता है। कथा यहाँ से रफ्तार की ओर तेजी से बढ़ती है। अध्याय के अन्त मे पुलिस की चालों के सम्बन्ध मे कहीं हुई देवीदीन की बातें पाठक की उत्सुकता बढ़ाती हैं।

पैंतीस—शतरंजी नक्शे वाली तरकीब से जालपा को रमा का पता चल जाता है। वह उसे लौटा लाने के लिए घर से चलती है। यात्रा के समय विश्वंभर की ऐंठभरी ईर्ष्या, गोपी की अकड़ और जालपा का भय, इन सभी का चित्रण लेखक की सतर्कता का परिचायक है।

छत्तीस—रमा के सरकारी गवाह बनने की सूचना जालपा को मानसिक व्यथा देती है। उसका निश्चय है कि रमा को इस दल-दल से बाहर निकालूँगी। उचित-अनुचित किसी भी ढंग से अपना मतलब साधनेवाली पुलिस के चंगुल से अपने पति को छुड़ाने में वह कैसे सफल होगी, यह जानने को हम उत्सुक हैं।

सैंतीस—यह छोटा-सा अध्याय पाठक की उत्सुकताग्नि में घी का काम करता है। रमा से बयान बदलवा लेना अथवा असफल होने पर 'अदालत में जाकर सारा कच्चा चिट्ठा' खोल देने का जालपा का निश्चय आगे की कथा जानने के लिए पाठक को विकल कर देता है।

अड़तीस—जालपा के साहस का सुफल उसे मिलता है; महीनों से बिछुड़े पति से उसकी भेंट होती है। विलासियों से घिरे रहने पर रमा के स्वभाव में होनेवाला परिवर्तन लेखक की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का परिचय देता है। बँगले में रमा को न पाकर पुलिस-अधिकारियों की क्या दशा होगी, यह जानने के लिए सभी उत्सुक हैं।

उन्तालीस—छह-सात महीने बाद मिले पति-पत्नी की बात-चीत। रमा का अपने कष्टों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहना और जालपा का सिसकियों के साथ सब सुन लेना, दोनों की प्रकृति के अनुकूल हुआ है। जालपा के उत्साहित करने पर रमा अपना बयान बदलने को तैयार हो जाता है। पुलिसवाले इस सूचना

से कितना बौखलायँगे, यह जानने की इच्छा पाठक को होती है और इस तरह लेखक ने आगे की कथा से इस परिच्छेद का संबंध जोड़ दिया है।

चालीस—अनुभवहीन रमा ने पुलिस को जता दिया कि मेरा निश्चय बयान बदलने का है। मनोविज्ञान का कुशल ज्ञाता, पुलिस का चतुर डिप्टी, यह सुनकर जेल-जीवन की ऐसी भयप्रद और कष्टदायक तसवीर उसके सामने खींचता है कि रमा को अपना नवीन विचार छोड़ने पर विवश होने के अतिरिक्त कोई चारा नही सूझता। पुलिस के हथकंडो से हम यहाँ दूसरी बार परिचित होते हैं। जालपा पर इस समाचार का क्या प्रभाव पड़ेगा, यह जानने को सब उत्सुक हैं।

इकतालीस—पति की मृत्यु के पश्चात सम्मिलित परिवार की विधवा के प्रति निष्ठुर संबन्धियों का क्रूर व्यवहार इस अध्याय का वर्ण्य विषय है। रतन-जैसी विधवाओं का जीवन हमारे समाज कितना दीन, निराश्रित और दयनीय है! वृद्ध वकील साहब और युवती रतन के जीवन-नाटक के कुछ करुण दृश्य दिखाने से लेखक का परोक्ष उद्देश्य इसी समस्या से हमें परिचित कराना है।

बयालीस—पुलिस कर्मचारियो से घिरे रमा का झूठा बयान सुन कर जालपा को मानसिक व्यथा हुई, उसी का मार्मिक वर्णन यहाँ किया गया है। जालपा की आगे की कारवाई जानने की सभी की बड़ी इच्छा है।

तेंतालीस—रमा के झूठे बयान के दुष्परिणाम—मुकदमें का फैसला और निरपराधियों को सजा—की कहानी इस परिच्छेद में है। जग्गो और जालपा की फटकार रमा को यहाँ सुननी पडी; हम जानने को उत्सुक हैं कि उसका कितना असर उस पर

होगा और पुलिस पर उसके नवीन व्यवहार का क्या प्रभाव पड़ेगा।

चवालीस—जज के दरवाजे तक जाकर रमा के लौट आने से प्रकट होता है कि उसकी आत्मा अभी तक पूर्ण साहसी और दृढ़ नहीं हो सकी है। उसमें अभी थोड़ी कमजोरी बाकी है जिसके लिए उसे एक कडवी 'डोज' की जरूरत और है। अपनी इतनी कड़ी फटकार को व्यर्थ होते देख जालपा का पति के प्रति व्यवहार में क्या परिवर्तन होगा-पाठक यह जानने को उत्सुक है।

पैंतालीस—जालपा-सी 'प्राउड लेडी' की भी 'कुछ मिजाज पुरसी करने की जरूर होगी'—पुलिस-अफसरों का यह भयप्रद संकेत रमा की दुर्बलता पर इतना बड़ा आघात है कि उससे फिर सर उठा सकने की आशा कोई कर ही नहीं सकता, यही इस परिच्छेद का संकेत है।

छियालीस—रमा-से विलासी युवक की सद्वृत्ति का हरण करने के लिए पुलिस ने 'कांचन' का प्रलोभन पहले दिया था, अब 'कामिनी-कादंब' का दूसरा प्रयोग करती है। और रमा वेश्या जोहरा के फंदे में बिल्कुल फँस जाता है। ऐसी स्थिति में उसके उद्धार की रही-सही आशा भी जाती रहती है। जालपा की इस एक महीने में क्या दशा हुई होगी, यह जानने के लिए हम बहुत उत्सुक हैं।

सैंतालीस—जालपा की दयनीय स्थिति की एक झलक दिखाकर लेखक ने पाठक की उत्सुकता बढ़ायी है। पूर्व की प्राण-प्रिय पत्नी की यह दशा देखकर रमा फिर सचेत होता है। जोहरा के प्रेममय हृदय का परिचय लेखक ने सहृदयता से दिया है। संकेत है कि वेश्या भी मूलतः नारी होती है। नारी-प्रकृति की

सभी विशेषताएँ उसमें वर्तमान रहती हैं ; पर असद् वातावरण का प्रभाव धीरे-धीरे इनका तेज हर लेता है, फिर भी गुणों का सर्वथा लोप नहीं होता और सद्वृत्ति से युक्त प्रेमी के संसर्ग में आकर वेश्या की नारी-प्रकृति के दो-एक गुण सजग हो ही जाते हैं। दरोगा का आगमन वेश्या-जीवन की छीना-झपटी पर प्रकाश डालता है।

अड़तालीस—उपन्यास का अंतिम महत्वपूर्ण दृश्य जिसमें जालपा की उज्जवल सेवावृत्ति और अद्भुत सहनशीलता की कहानी है। स्वार्थ-रहित परोपकार की महान साधना का चमत्कारपूर्ण प्रभाव यहाँ दिखलाया गया है। विलासिनी जोहरा जब जालपा की निष्काम सेवा से अत्यंत प्रभावित होकर सीधा-सादा रहन-सहन अपना लेती है, तब उसकी कष्ट-कथा सुनकर रमा का उत्तेजित हो जाना नितांत स्वाभाविक है।

उनचास—दरोगा साहब की मूर्खता और परेशानी का जिक्र करने के लिए लेखक ने जोहरा को जो शरारत सुझाई है, उसी की रोचक कहानी यहाँ है। रमा के जज साहब के पास जाने का क्या फल पुलिसवालों को भुगतना पड़ेगा, यह हम जानना चाहते हैं। जोहरा को एकांत में पाकर दरोगा के चित्त की चंचलता से लेखक की पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है।

पचास—रमा ने साहस करके जज से सारी कहानी कह ही सुनायी। फलस्वरूप 'अँगरेजी न्याय के इतिहास में सर्वथा अभूतपूर्व घटना' घटी ; फिर से पेशी हुई और निरपराधी छोड़ दिये गये।

इक्यावन—रमा पर चलाये गये मुकदमे की कहानी। सहृदयतापूर्वक विचार करके जज उसे बरी कर अपनी न्यायप्रियता का परिचय देता है।

बावन—अंतिम परंतु अत्यंत मार्मिक दृश्य जिसमें पारिवारिक और सामाजिक क्रूरता की वेदी पर रतन और जोहरा, दो देवियाँ-सरीखी नारियाँ बलिदान हो जाती हैं। शहर से हटाकर प्रयाग के समीपवर्ती गाँव में दयानाथ, रमा और देवीदीन के परिवारों को लेखक ने इस उद्देश्य-विशेष से एकत्र किया है कि नगर के भौतिक और पतितकारी संघर्ष से मुक्ति पाने के लिए गाँव ही एकमात्र स्थान है—'सुख-शांति के लिए इससे बढ़कर कोई अच्छी जगह हो ही नहीं सकती'। जोहरा-जैसी नारियाँ इस प्रकार आत्मबलिदान करके ही समाज में कुछ आदर पा सकती हैं—लेखक का यही अंतिम संकेत या संदेश कहा जा सकता है।

दयानाथ के परिवार में जोहरा देवीदीन की विधवा पुत्रवधू बनकर रह सकी है, अपना असली परिचय देकर नहीं। इस छद्मता का स्पष्ट कारण यह है कि इस नारी के उद्धार की कामना रखनेवाले उदारहृदय लेखक को भी संभवतः यह नहीं सूझ सका कि पुरातन रूढ़ियों के शव को जो हिंदू-समाज बड़ी ममता से कलेजे से चिपटाये हुआ है, वह उसे किस रूप में अपना सकेगा। इसी प्रकार वकील साहब की जो विधवा पत्नी जीवन भर बच्ची की तरह आभूषणों के खिलौनों से बहलायी गयी और जिसे स्वप्न में भी वास्तविक सुख का तृप्तिदायक अनुभव न हुआ, उसके लिए असामयिक मृत्यु भी वरदान से बढ़कर हो गयी जिससे उसको अनेकानेक मानसिक यंत्रणाओं से सहज ही मुक्ति मिल गयी। इस सूझबूझ के लिए लेखक सहृदय पाठकों की बधाई का पात्र है।

———

प्रेमचंद जी के उपन्यासों की प्रमुख समस्याएँ

सामयिक विषयों को लेकर उपन्यास लिखने से साहित्य-रचना के साथ-साथ उन समस्याओं के विषय में लेखक को अपने विचार प्रकट करने का भी अवसर मिल जाता है। जनता में इनका जो सम्मान होता है, उसके भी दो कारण हैं। एक तो प्रचलित विषयों की ओर उसका ध्यान सहज ही आकर्षित हो जाता है; और दूसरे, उनके संबंध में एक योग्य लेखक के विचार मालूम होते हैं जिससे अपना मत निर्धारित करने में उसे सहायता मिलती है। इन उद्देश्यो की पूर्ति तभी होती है जब सामयिक विषयों को ऐसे प्रासंगिक रूप से अपनाया जाय कि पाठकों का ध्यान मूल कथानक की ओर से विचलित न हो। यह कार्य सरल नहीं है, और लेखक के जरा-सा चूकने पर अर्थ का अनर्थ होने की संभावना रहती है। हर्ष की बात है कि प्रेमचंद जी ने अपने उपन्यासो में इस बात का उचित ध्यान रखा है। सामयिक समस्याओं पर उन्होंने कभी कथोपकथन द्वारा और कभी सीधी-सादी या हास्य और व्यंग्यपूर्ण शैली में इस ढंग से विचार किया है कि पाठकों का जी नहीं ऊबता। हो सकता है कि दो-एक स्थल, अपवाद-स्वरूप भी हों, पर उनका एक विशेष कारण—विवशता—है जिसकी विवेचना यहाँ अनावश्यक है।

प्रेमचंद जी का सबसे पहला उपन्यास 'सेवासदन' था। इसकी समस्या मुख्यतः सामाजिक है। स्थान-स्थान पर कुछ तो विषय की असंबद्धता और कुछ उद्देश्य की अस्पष्टता के कारण धर्म की विवाद-ग्रस्त बातों—धर्म के ठेकेदारों के पाखंड, धर्म में

फैली हुई कुरीतियाँ, धर्म के नाम पर किया जानेवाला अत्याचार आदि—पर भी विचारपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला गया है। बस, 'सेवासदन' में तत्कालीन सामयिक समस्याओं में सामाजिक और धार्मिक, इन्हीं दो को मुख्यतः अपनाया गया है। एक-दो स्थानों पर भाषा, साहित्य, शिक्षा आदि की तत्कालीन दशा के विषय में भी संकेत किया गया है; पर वह बहुत-कुछ चलताऊ ही है। उसे हम मुख्य या प्रासंगिक विषय से संबद्ध या उसके अंतर्गत नहीं मान सकते।

सन् १६१४ के यूरोपीय महासमर के साथ भारत में भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए जोर-शोर से प्रयत्न किया जाने लगा। साधारण जनता ने इस राजनीतिक आंदोलन को उतने महत्व की दृष्टि से नहीं देखा जितना इससे संबंध रखनेवाली कृषक और ग्राम-समस्या के आंदोलन को। मूलतः दोनो आंदोलनो का लक्ष्य एक ही उद्देश्य की पूर्ति माना जा सकता है। किसानो की दशा सुधरने पर ही वे हमारे साथ रह सकते थे और तभी स्वतंत्रता-प्राप्ति-संबंधी उद्योग में उनकी सम्मिलित शक्ति से—यह बात अत्यंत संक्षेप में, बिना किसी प्रकार की व्याख्या के ही कही जा रही है—हमें अपने प्रयत्न में सफलता मिल सकती थी। प्रथम राजनीतिक आंदोलन के लिए देश के विशेष रूप से तैयार होने की आवश्यकता थी और दूसरी ओर जनता से पूर्ण सहयोग की पूरी आशा। महात्मा गाँधी ने आरंभ में किसानों की दशा सुधारने की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया, उसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय तक महात्मा गाँधी का यह आंदोलन आरंभ हो चुका था, उसकी ख्याति हो चुकी थी और लोग उसकी ओर ध्यान भी देने लगे थे। अतः जब प्रेमचंद जी को अपने पाठकों के सामने—उन्हीं पाठकों के सामने जो अँग्रेजी और बँगला के

उपन्यासों की प्रशंसा करते न थकते थे ; परंतु अपनी संकुचित दृष्टि और ईर्ष्यालु प्रकृति के कारण 'सेवासदन' की प्रशंसा करते हुए भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने में हिचकते थे—किसी ऐसी चीज के रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उनका ध्यान आकृष्ट कर सके, जिसका वे सम्मान कर सकें और जिसे खरीदने के लिए वे सहर्ष पैसा खर्च करने को भी तैयार हो जायँ, तब उन्होंने उस 'प्रेमाश्रम' की रचना की जिसका मुख्य विषय तत्कालीन राजनीतिक समस्या से संबद्ध होता हुआ भी सर्वथा स्वतंत्र है ; सामयिक होते हुए भी भारत-जैसे कृषिप्रधान देश के लिए सार्वकालीन है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यदि हम 'प्रेमाश्रम' की आलोचना करके उसका यथार्थ महत्व और उचित मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न न भी करें अथवा इस दृष्टिकोण से हिंदी के उपन्यासों में उसका निर्दिष्ट स्थान हम स्वीकार ही न करें, तब भी उसका पठन-पाठन कम नहीं हो सकता। इसका एकमात्र कारण है उपन्यास का मुख्य विषय, उनमें वर्णित ग्राम-समस्या, जिसके तत्कालीन प्रवर्त्तक थे महात्मा गाँधी। 'प्रेमाश्रम' जिस समय प्रकाशित हुआ था, उस समय कुछ आलोचकों ने दबी ज़बान से यह कहने का साहस किया था कि उसके मुख्य पात्र प्रेमशंकर के, इस समस्या से संबंध रखनेवाले विचारों पर महात्मा गांधी के विचारों और नवीन आदर्शों की स्पष्ट छाप है। हम भी इससे सहमत हैं। बीच-बीच में, प्रसंगानुसार, शासन-प्रबंध और डाक्टरी, वकालत आदि, व्यवसायों तथा यतीमखानों की वास्तविक स्थिति के संबध में जो सुधारात्मक विचार प्रेमशंकर अथवा उनके मित्रों के मुख से कहलाये गये हैं, उन्हें हम प्रेमचंद जी के निजी विचारों का विवेचनात्मक प्रकटीकरण कह सकते हैं। कुछ सामाजिक और धार्मिक प्रसंगों का भी 'प्रेमाश्रम' के मूल और प्रधान विषय से संबंध था। 'सेवा-

सदन' की उक्त समस्याओं को भी परिशिष्ट के रूप में 'प्रेमाश्रम' में गौण स्थान मिला है।

अब 'रंगभूमि' में आइए। 'प्रेमाश्रम' में ग्राम-समस्या के जिस पहलू का आकर्षक चित्र खींचा गया है, वह प्रारंभिक ही है। किसानो की तत्कालीन दीन दशा, उन पर होनेवाले अत्याचार और उसके कारण, अत्यंत संक्षेप में, केवल इन्हीं के विषय में प्रेमचंद जी ने अपने विचार रोचक ढंग से व्यक्त किये हैं। यह विषय नया नही था; कई सौ वर्षों से भारतीय किसानों की ऐसी ही दशा रही थी। उपन्यास का महत्व इस बात में है कि उसमें आवश्यक बातो को एकत्र करके, सुधार-संबंधी उपायों की ओर कलात्मक ढंग से संकेत किया गया है। ये उपाय विशेषतः पुराने ढंग के है और इनमें मुख्यतः जमींदारो को अपना नैतिक जीवन और आचरण सुधारने की आवश्यकता बतायी गयी है। वैज्ञानिक उन्नति के वर्तमान युग में ये सुधार-प्रस्ताव आवश्यक होते हुए भी अपूर्ण है। अतः 'रगभूमि' में प्रेमचंद जी ने ग्राम-समस्या के उस पहलू की रोचक व्याख्या की, जिसमें कृषि-संबंधी सुधार की ओर विशेष ध्यान न देकर औद्योगिक धंधों की उन्नति करने के लिए देश में कल-कारखानो की आवश्यकता बतायी गयी। हो सकता है कि उन पाश्चात्य शीत-प्रधान देशो अथवा पहाड़ी स्थानों में इनसे लाभ हुआ हो जहाँ अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं, जहाँ खाद्य पदार्थों की उपज संतोषजनक नही होती; परंतु भारत के लिए यह बात ठीक नहीं। यहाँ के तो अधिकांश निवासियों का मुख्य उद्यम खेती ही है। यही कारण है कि 'रंगभूमि' में प्रेमचंदजी ने भारत के लिए कल-कारखानो की अनुपयुक्तता पर ही जोर दिया है।

'प्रेमाश्रम' में शहरों के शासन के संबंध में संकेतमात्र किया

गया है; 'रंगभूमि' में इस विषय की अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचना है। 'गबन' के अंतिम पृष्ठों में 'प्रेमाश्रम' के ढंग पर ही अदालतों की वर्तमान स्थिति के संबंध में थोड़ा-बहुत लिखा गया है, जिसे आलोचकों ने अनुपयुक्त बताते हुए अयथार्थ कहा है। हमें भी इस वर्णन से संतोष नही। हाँ, 'कर्मभूमि' में उपन्यासकार ने 'रंगभूमि' के नागरिक शासन-सबंधी वर्णनो का जो विस्तार दिया है, वह पूर्ण है और पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ भी। इन उपन्यासो मे अन्य सामयिक समस्याओ का जो वर्णन मिलता है, वह बहुत साधारण है। कहा जा सकता है कि 'रंगभूमि' में देशी रियासतों, 'गबन' में पुलिस के हथकंडो और 'कर्मभू'म' में स्वतत्रता-संबंधी-आंदोलन के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह अधिक महत्व का है। हमारी सम्मति में प्रेमचदजी ने इनमें से केवल अंतिम की ओर थोड़ा ध्यान दिया है। 'रंगभूमि', 'गब्बन' और 'कर्मभूमि', तीनो उपन्यासो में इस आंदोलन के सवंध मे जो विचार प्रकट किये गये है उनका यदि संकलन किया जाय तो हमें इसका सच्चा इतिहास प्राप्त हो सकता है।

'कायाकल्प' का विषय इन सब उपन्यासो से भिन्न है। उसका मूल विषय, एक तरह से एक है ही नहीं, प्रसंगानुसार उसमें, समाज, धर्म, राजनीति, राजमद, गार्हस्थ्य जीवन, सभी के विषय में कुछ न कुछ कहा गया है। हॉ, इसकी एक समस्या सामयिक और महत्त्वपूर्ण है। हिंदुओ और मुसलमानो में भिन्न धार्मिक आदर्शों के कारण जो पारस्परिक विरोध बढ़ता जा रहा था, उसकी ओर इसमें एक स्थल पर संकेत किया गया है। इस विरोध का केवल एक ही दृश्य प्रेमचंद जी ने दिखाया है; परंतु है वह बड़ा चमत्कारपूर्ण और शिक्षाप्रद, इसमें संदेह नहीं।

'कर्मभूमि' में दो समस्याएँ साथ-साथ चलती हैं। एक का

संबंध नगर से हैं और दूसरी का गॉव से। नागरिक कथा का आरंभ एक पारिवारिक समस्या से होता है। अमरकांत को सार्वजनिक कार्यों से रुचि है, उसी के साथ रहकर हम नागरिक समस्याओं से परिचित होते हैं। पिता को पुत्र की बातें रुचती नहीं और एक दिन अमरकांत को घर छोड़ना पड़ता है। इस ठुकराये हुए युवक के प्रति हमारी सहानुभू त बढ़ती है। माया की ममता में पड कर पिता जब अपने पुत्र को और पत्नी अपने पति को खो देती है, तब दोनो चेतते है। पति का स्वभाव समझने की चेष्टा करती हुई सुखदा अछूतों के मंदिर-प्रवेश की बात लेकर धर्म के ठेकेदारों से और बाद में अछूतो के घरो को लेकर सरकारी बोर्ड से युद्ध ठानती है। उसके जेल चले जाने पर पिता समरकांत मैदान में आते है। उनको लेखक ने सुखदा से पहले दो कारणो से नही आने दिया। एक तो यह कि नगर में आंदोलन का आरभ होता है धर्म के उस प्रश्न को लेकर जो समरकांत के जोवन-मरण से परे, उस लोक से उनका संबंध स्थापित करनेवाला है. और दूसरे; उनके सस्कार नयी रोशनी के नही हैं। उनसे यह आशा नही की जा सकती कि वे सहसा पूँजीपति-वर्ग की मनोवृत्ति छोडकर सुधारक के रूप में सामने आ सकेंगे। पुत्र, पतोहू, कन्या सबके जेल चले जाने पर तो उनके लिए कोई अन्य मार्ग रह ही नही जाता ; अस्तु।

ग्राम्य आंदोलन से हमारा परिचय अमरकांत के वहॉ पहुँचने पर होता है। आरंभ में ग्रामीण समाज के उन दोषो से हम परिचित होते हैं जो उच्च वर्ग से उसे अलग किये हुए हैं। पश्चात् उसकी निर्धनता, कर और कर्ज-संबंधी समस्याएँ सामने आती हैं, जिनका प्रत्यक्ष और परोक्ष सबंध सारे देश से है। निर्धन किसान लगान देने लायक नही है और छूट के लिए सरकार से संघर्ष करता है। अमरकांत अकेला शायद इतना काम सॅभाल न सके,

इसलिए स्वामी आत्मानंद को भी लेखक ने वहाँ पहुँचा दिया है और अमरकांत के जेल जाने पर सलीम उसके रिक्त स्थान की पूर्ति करने पहुँच जाता है।

कथा-विकास के इस प्रकार पाँच भाग लेखक ने किये हैं। प्रथम और तृतीय में नागरिक आंदोलन की कहानी है और द्वितीय तथा चतुर्थ में ग्राम्य की। पाँचवें भाग में दोनों कथाएँ मिल कर एक हो जाती है और लेखक एक परिच्छेद में नगर की कहानी कहता है तो दूसरे में ग्राम्य की। दोनों क्षेत्रों में सार्वजनिक आंदोलन के नेता भी मिल कर एक हो जाते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि यह मेल होता है जेल मे। यह देश, निश्चय ही, दूरदर्शिता से युक्त और उद्देश्यपूर्ण माना जा सकता है।

पारिवारिक जीवन की विवशता और उसका परिणाम इस उपन्यास की मुख्य समस्या है। पुरानी लीक पीटनेवाला पिता और नयी रोशनी का शिक्षित पुत्र, एक धर्म के आडंबर का अंधानुयायी और दूसरा उसका शत्रु, एक धन के लिए जान देनेवाला कृपण और लोभी—उसकी प्राप्ति के लिए सभी कुछ करने को सदा प्रस्तुत महाजन; और दूसरा, सिर्फ पेट भरने के लिए पैसों की चाह रखनेवाला उदार और निर्लोभी; फलस्वरूप पिता और पुत्र में जरा भी नही वनती। विवाह के पश्चात् इस असंयमी और 'युवती प्रकृति' के युवक का संबंध होता है विलासिनी 'युवक प्रकृति' की युवती से। जन्म से अमरकांत स्नेह से वंचित है, विमाता की डाँट-फटकार और पिता के निर्मम व्यवहार ने उसको प्रेम के लिए लालायित कर दिया है, वह किसी स्नेहमयी गोद में लेट कर विश्राम चाहता है। उधर, लाड़-प्यार से पली सुखदा बचपन से अपनी बात रखती और सब पर

शासन करती आयी है। पत्नी के कर्तव्य वह समझती है और उनके अनुसार व्यवहार करने को प्रस्तुत है, परंतु तभी जब पति की ओर से इसका प्रारंभ हो; वह स्वयं झुक नहीं सकती। अमर उसकी प्रकृति समझ नही पाता। फलतः शारीरिक संबंध बना रहने पर भी दोनो के मन नही मिलते। सुखदा के गर्भवती हो जाने पर अमर को उसके प्रति विशेष आकर्षण हो जाता है, परंतु बच्चे के तीन-चार महीने के हो जाने पर स्थिति पुनः पूर्ववत् हो जाती है। सकीना इसी समय अमर के जीवन में क्षणिक प्रवेश करती है।

'गोदान' में खन्ना-परिवार की समस्या भी ऐसी ही है। अंतर केवल इतना है कि वहाँ मिसेज खन्ना तीन-चार बच्चों की माता हैं और इस बंधन के कारण वे इच्छा रखते हुए भी घर से अपना सम्बन्ध-विच्छेद स्वयं नही कर सकतीं। मिस्टर खन्ना की स्थिति भी अमरकांत से अधिक पुष्ट है। वे एक मिल के डाइरेक्टर हैं, दूसरी के मालिक हैं। मनचाहा व्यवहार वे स्वच्छंद युवतियों से कर सकते हैं और मालती तो उनके हाथ का खिलौना ही बन जाती है। उनकी स्वेच्छाचारिता से मिसेज खन्ना इतनी दुखी नहीं जितनी इस बात से कि पत्नी और पुत्र के प्रति अपने कर्तव्य को उन्होंने भुला दिया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'कर्म-भूमि' और 'गोदान' की पारिवारिक समस्या का घनिष्ठ संबंध है। अंतर केवल इतना है कि 'कर्मभूमि' की समस्या विवाह के तीन-चार वर्ष बाद की है और 'गोदान' की लगभग पंद्रह बीस।

मुन्नी जैसी स्त्रियो की समस्या भी प्रायः समाज के सामने रहती है। असहाय, निर्धन और अनाथ हिन्दू युवतियो का धर्म लूटनेवाले विधर्मियों की कमी नहीं है। हमारा समाज अपनी आँखो के सामने बहू-बेटियो की लाज लुटते देखता और फिर भी

जीवित रहता है ; परन्तु उन्हें पुनः अपने में मिलाने को किसी तरह प्रस्तुत नही। मुन्नी जैसा मनोबल तो इनमें होता नहीं— यद्यपि लेखक ने संकेत किया है कि इन स्त्रियों का, इनके प्रति नागरिको और परिवारवालो का क्या कर्तव्य होना चाहिए—तब इनकी जीवन-नैया इस अथाह और अगम समाज-सागर में, जिसमें भयंकर और शक्ति-शाली घातक जीव-जन्तु ही चारों ओर घात लगाये हैं, कैसे पार लगेगी ?

प्रेमचन्दजी के प्रायः सभी उपन्यासो में दो-चार सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं। देश और समाज को आज इनकी आवश्यकता है। अपने अन्य पात्र-पात्रियो के परिवारवालो की ओर से लेखक उदासीन भले ही रह ले, परन्तु इन कार्यकर्ताओं के पारिवारिक जीवन का चित्र न खींचे जाने पर चित्रण अधूरा ही समझा जाना चाहिए। 'कर्मभूमि' इस दृष्टि से उनका पूर्ण उपन्यास है ; इसमें अधिकार-प्रिय अमरकांत के पारिवारिक जीवन की विस्तृत चर्चा लेखक ने की है।

सामाजिक कार्यकर्ताओं के सुधार-कार्य के प्रति परिवार के अन्य व्यक्तियो को असंतोष रहता है। समाज-सुधार का कार्यकर्ता की दृष्टि में जो भी महत्व हो, उसके सम्बन्धी उसे स्वीकार करने को तैयार नही होते और इसे किसी तरह पसन्द नही कर सकते कि परिवार की चिन्ता छोड़कर 'सुधारक' केवल सामाजिक क्षेत्र मे ही कार्य करे। अमरकांत के पारिवारिक जीवन में असन्तोष का कारण उसकी जन-सेवा वृत्ति ही है, जिसका निश्चित लक्ष्य न होने और बीच में सकीना के आ जाने पर क्रमिक विकास नही होता। समरकांत और सुखदा उससे इसीलिए असन्तुष्ट है हैं कि वह भोर से पाठशाला जाता, दिन भर नया रोग पालता— म्युनिसिपैलिटी की मेम्बरी निभाता—और साँझ से कांग्रेस में

बैठता। वे सभी काम उनकी निगाह में 'रोग', ऊपर के कार्य, कोरे व्यर्थ के झंझट हैं।

समस्या यह है कि समाज और देश, दोनों को आज ऐसे सुधारकों और सेवकों की आवश्यकता है जो व्यक्तिगत हानि-लाभ के विचारों का त्याग करके सुधार-कार्य में अग्रसर हों। परन्तु ऐसा करने पर उनके सम्बन्धियों को व्यक्तिगत हानि-लाभ का विचार छोड़ने के लिए विवश नहीं किया जा सकता; वे स्वयं ऐसा करने को प्रस्तुत हो जायँ तब तो कहना ही क्या है, परन्तु इसके लिए उन्हें दबाना नितांत अनुचित और स्वार्थयुक्त है। देश-प्रेमी के हृदय में राष्ट्रीयता की जो भावना है वह उसके परिवार के सभी सदस्यों में कदापि नहीं होगी। स्वभावतः वे उसके कार्य का विरोध करेंगे और फलस्वरूप परिवार में अशांति होगी। यदि सुधारक की आर्थिक दशा 'कर्मभूमि' के लाला समरकांत की तरह अच्छी है, तब तो कम-से-कम उसे एक चिंता से छुटकारा मिल जाता है, परन्तु आर्थिक दशा अच्छी न होने पर संघर्ष तथा उसका परिणाम और भी भयंकर हो सकता है। इस संघर्ष का अन्त तभी होता है जब सुधारक के निकटतम सम्बन्धी उसके कार्य में सहयोग दें। 'कर्मभूमि' में सुखदा और समरकांत, दोनों अन्त में अमरकांत की तरह सार्वजनिक कार्य में भाग लेने लगते हैं।

इस सम्बन्ध में दो बातें विशेष ध्यान में रखने की हैं। एक, सुधार-कार्य में प्रवृत्त कार्यकर्ता में बलिदान होने की तीव्रतर भावना और साहस चाहिए अन्यथा वह स्वयं तो डूबेगा ही जनता को भी ले डूबेगा? 'कर्मभूमि' में स्वामी आत्मानन्द ऐसे ही कायर सुधारक हैं, जो पहले तो गरीब अछूतों को मन्दिर के द्वार पर धरना देने के लिए उभारते हैं; परन्तु मार पड़ते ही सबसे

आगे भाग खड़े होते हैं। ऐसे सुधारकों से जनता की हानि तो होती ही है, स्वयं सुधारक-वर्ग भी बदनाम होता है।

दूसरी बात यह कि सार्वजनिक कार्य में भाग लेनेवाले व्यक्ति के परिवार में शांति तभी हो सकती है जब अन्य संबंधी भी उसी का अनुकरण करके इस क्षेत्र में उतर आये, अपने ऐश्वर्य का हँसते-हँसते त्याग करने को प्रस्तुत हो जायँ। 'कर्मभूमि' का अमरकांत अकेला जब इस क्षेत्र में प्रवेश करता है तब पिता उसका विरोध करते हैं और पत्नी भी। धीरे-धीरे यह विरोध भयंकर रूप धारण कर लेता है। घर की शांति नष्ट हो जाती है, एक दूसरे से हँसने-बोलने को तरस जाते हैं। एक दिन अछूतों के मंदिर-प्रवेश का प्रश्न लेकर सुखदा मैदान में आ जाती है और अंत में समरकांत भी। उद्देश्य की एकता हो जाने पर इन प्राणियों को कृष्ण-मंदिर में भी पर्याप्त सुख-संतोष मिलता है।

'निर्मला' सामाजिक उपन्यास है जिसमें दहेज न दे सकने के कारण कन्या के विवाह में आनेवाली बाधाओं की चर्चा है। पंद्रह वर्षीय किशोरी निर्मला को 'जिसके यौवन का अभी तक पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ है', एक चालीस वर्ष के अधेड़ के साथ व्याह देना कितना भयंकर सामाजिक पाप है, यही दिखाना इस उपन्यास का उद्देश्य है। 'वकालत के कठिन परिश्रम ने जिसके बाल पका दिये हैं, व्यायाम करने का जिसे कभी अवकाश नहीं मिलता, यहाँ तक कि जो घूमने भी नहीं जा सकता, जिसके तोंद निकल आयी है, देह के स्थूल होते हुए भी आये दिन कोई न कोई शिकायत जिसे रहती है, मंदाग्नि और बवासीर से जिसका स्थायी संबंध है, और जो बहुत फूँक-फूँककर कदम रखता है,' ऐसा अधेड़ व्यक्ति फूल-सी कुमारी कन्या के पिता

की अवस्था का है जिसके 'पास बैठने और हँसने-बोलने में उसे संकोच होता है,' 'जिसके सामने वह सिर झुका कर, देह चुराकर निकलती है, जिससे भागती फिरती और जिसको देखते ही उसकी प्रफुल्लता पलायन कर जाती थी। वकील साहब प्रेम-प्रदर्शन में कोई कसर न रखते ; परंतु उनके व्यवहार में 'रस न था, उल्लास न था, उन्माद न था, हृदय न था, केवल बनावट थी, धोखा था और था शुष्क, नीरस शब्दाडंबर'। युवती नववधू को ऐसे पति से शारीरिक अतृप्ति और मानसिक असंतोष के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है ? कारण, ऐसी अवस्था के पति को वह प्रेम की वस्तु नहीं, सम्मान की वस्तु समझती है।'

निर्मला के इस दुर्भाग्य की कहानी लेखक ने बहुत निर्मम होकर लिखी है ; कहीं भी उसके प्रति जरा-सी दया नहीं दिखलायी। इस सामाजिक अभिशाप का भयंकर परिणाम है दो-दो परिवारों के समस्त प्राणियों का जीवन भर रोते रहना और उन्हे कराह-कराह कर 'विसूरते' देख लेखक जरा भी दया दिखाने की आवश्यकता नहीं समझता। हाँ, बार-बार चिढ़ाने के लिए याद दिलाता है, अधेड़ अवस्था में विवाह करने के ये ही मजे हैं। निर्मला यही सोचती है, रुक्मिणी यही कहती है, वकील साहब यही सोचते हैं, उनके तीनो बच्चे बार-बार यही कहते हैं. कहारिन, भंगी और गली चलते लोग, जो भी इस परिवार की कथा सुनते है, सभी यही कहते है। वकील साहब का सुखी जीवन संतप्त और अशांत हो जाता है इस विवाह के कारण, उनका जवान बेटा मरता है इस विवाह के कारण, माता-तुल्य बहन से उनका मनमुटाव होता है इस विवाह के कारण, उनके दोनो छोटे पुत्र कलप-कलप कर घर छोड़ते हैं इस विवाह के कारण और स्वयं धनी-मानी वकील साहब पैसे-पैसे को मोहताज होकर गली-गली ठोकरें खाते हैं इस विवाह के कारण।

स्वभाव का सहृदय और उदार लेखक इस उपन्यास के लिखते समय जो इतना निर्मम और कठोर हो गया है उसका कारण यह उद्देश्य ही है कि यदि इस परिवार के पाँच-सात प्राणियो के बलिदान से हमारे समाज की आँखें जरा भी खुल सके तो अच्छा है। दहेज की प्रथा जिस द्रुत गति से हमारे समाज में फैल गयी है, उससे एक-दो नही, पचासों परिवारो का इसी तरह नाश हो रहा है, और यह निश्चित है कि इसी रूप मे उसके बढ़ते रहने पर प्राणियो के बलिदान का यह क्रम भी चलता रहेगा।

और दहेज को चाह कितनी भयंकर हो गयी है! बाप पढ़ा है तो दहेज चाहिए, लड़का पढ़ा है तब तो कहना ही क्या, बाप नौकर है तो दहेज देनी होगी, लड़का नौकर है तब तो माँगने का ही सवाल नहीं उठता, घर में जायदाद है तो दहेज जरूरी है और लड़के में कोई हुनर है तो वह अनिवार्य हो जाती है। नहीं चाहिए दहेज सिर्फ उनके लिए जिनके या तो 'खानदान में कोई दाग' है या जिनकी पहली स्त्री मर चुकी है और पैतीस-चालीस की अवस्था में तीन-तीन लड़कों का पालन करने के लिए जो एक ऐसी लड़की चाहते है जिससे 'एक पंथ दो काज' की कहावत सिद्ध हो सके। मुंशी तोताराम ऐसे ही वकील है जिन्हे कल्याणी ने किशोरी निर्मला के लिए चुना है और यह कह कर मन में संतोष कर लिया है, 'आयु कुछ अधिक है, लेकिन मरना-जीना विधि के हाथ है, पैंतीस साल का आदमी बुड्ढा नही कहलाता। अगर लड़की के भाग्य में सुख भोगना बदा है तो जहाँ जायगी, सुखी रहेगी; दुख भोगना है तो जहाँ जायगी, दुख झेलेगी। हमारी निर्मला को बच्चो से प्रेम है; उसके बच्चो को अपना समझेगी', अस्तु।

दहेज चाहनेवाले युवको को भी अपनी लोलुपता का फल

भोगना पड़ता है। वे डाक्टर सिनहा की तरह पाँच हजार दहेज में तो पा लेते है; परन्तु पत्नी मन की नहीं मिलती और बाद में जिस लड़की को दहेज न मिलने के कारण छोड़ दिया था उसके रूप-गुण की चर्चा सुनकर उन्हें हाथ मलकर और मन मसोसकर रह जाना पडता है। ऐसे युवकों को सचेत करने के लिए लेखक ने दंड भी बडा भयानक और कठोर दिया है। निर्मला को एक दिन एकांत में पाकर युवक-प्रवृत्ति की दुर्बलता के वशीभूत हो जब डाक्टर सिनहा अपनी मानसिक अस्थिरता का परिचय देता है, तब उसे विष खाकर आत्महत्या करने पर ही शांति मिलती है। लेखक का संकेत है कि इस युवक का यह दंड उसके अंतिम अपराध के लिए नही मिला है, प्रत्युत उसके पूर्व पाप का—'एक लाख रुपए की' दहेज के लोभ से अलभ्य रत्न को, घर आई लक्ष्मी को ठुकरा देने का—प्रायश्चित है।

एक परोक्ष सकेत और है। अच्छी दहेज पाने की चाह निर्धन परिवार के लड़कों को उतनी नही होती जितनी धनवानो को होती है। इन्हे ध्यान रखना चाहिए कि अपने जिस धन के मद में वे जमीन पर पैर नही रखते वह किसी भी दिन दैवी-मानवी आपत्तियो के कारण नष्ठ हो सकता हैं। निर्मला के पिता वकील उदयभानु रईस है और उसके पति मुंशी तोताराम भी। एक दैवी आपत्तियो की भेंट होता है और दूसरा, मानवो की। दोनो वकील घराने देखते-देखते निर्धन हो जाते हैं। मानवी आपत्तियों की मार तो निर्मला के पति तीन-चार साल सह भी लेते है, परंतु दैवी आपत्ति का धक्का दिन के कुछ घंटो में ही उन्हें चौपट कर देता है। धनांध और मदांध युवक इस संकेत से यदि सचेत हो सकें तो उनका जीवन सुख-शांतिमय हो सकता है।

इस सामाजिक समस्या के सुधार का एक उपाय भी लेखक

ने बतलाया है। दहेज के लोभ में निर्मला जैसी आदर्श बालिका को जिस डाक्टर सिनहा ने ठुकरा दिया था, वही पत्नी द्वारा प्रेरित किये जाने पर अपने छोटे भाई का विवाह उसकी बहन कृष्णा से करने के लिए धन-लोभी पिता को तैयार करता है। सिनहा का भाई जाग्रत भारत का खद्दर-प्रेमी युवक है जो गॉव-गाँव में जाकर उसका प्रचार करता है। लेखक ने यद्यपि इस ओर कोई संकेत नही किया है तथापि, बहुत सभव है, दहेज-प्रथा का विरोध इस युवक ने भी किया हो। जो हो, एक यही ढंग, लेखक की सम्मति में, ऐसा है जिससे निर्धन या 'बिगड़े' परिवारो की कन्या-रत्नों का उद्धार हो सकता है। परंतु सुधार या उद्धार के उद्देश्य से लेखक दहेज-प्रथा के विरोध को आवश्यकता नही समझता। उसका सकेत है कि यदि अपना भावी जीवन सुखी बनाना चाहते हो, यदि अपनी भूल से निर्मला-जैसा अलभ्य रत्न खोकर बाद को पछताना नही चाहते और कृष्णा-जैसी स्वोद्देश्यानुगामिनी पत्नी, जो भावी पति के खद्दर-प्रेम की चर्चा सुनकर ही उसकी प्रसन्नता के लिए रात-रात भर चर्खा चलाना शुरू कर देती है, चाहते हो जिससे पारिवारिक जीवन प्रेममय, शांतिमय और सोद्देश्य हो सके, तो दहेज के थोड़े रुपये छोड़ दो—ठुकरा दो—जो विवाह के साज-सामान में, नाच-रंग में, खेल-तमाशे में, दावत-ज्योनार में दो-चार दिनों में समाप्त हो जायँगे और सबके लिए व्यर्थ का पछतावा और पाप का बोझ छोड़ जायँगे। स्पष्ट है कि इस सामयिक समस्या को सुलझाने का इस उन्यास में निर्देशित उपाय केवल सैद्धांतिक नहीं, क्रियात्मक है और आदर्श भी।

अब 'गबन' उपन्यास को लीजिए। स्वास्थ्य के नाम पर स्त्रियो की स्वतंत्रता का प्रश्न उठाकर भारतीय समाज को पाश्चात्य जीवन के अनुकरण के लिए आज का शिक्षित समाज

प्रेरित कर रहा है। निश्चय ही स्वास्थ्य-रक्षा की समस्या जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण है और खुले संसार में घूमने देने से यदि उनका स्वास्थ्य सुधर सकता है तो हमारे समाज को हठ छोड़ कर यह बात माननी ही होगी, चाहे अभी माने या कुछ देर में, चाहे हँसकर माने या रोकर। वस्तुतः प्रश्न केवल खुले में घूमने का नही है। शिक्षित भारतीय युवतियाँ पाश्चात्य जीवन की वे सभी ऊपरी बातें अपनाना चाहती हैं जिनसे होनेवाले अनेक लाभों की आकर्षक कहानी सात समुद्र पार करके उन तक पहुँची हैं। ऊँची शिक्षा वे चाहती हैं और हमारा अनुमान है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसका समर्थन करेगा; परदा वे नहीं करना चाहती और हम समझते हैं कि इस कुप्रथा के प्रचलित होने का मूल कारण आज न रह जाने से इसकी कोई आवश्यकता भी नही रह गयी है; मनचीते युवकों-युवतियो से मिलने की पूरी स्वतंत्रता वे चाहती हैं और हमारी सम्मति में चरित्र और सतीत्व का मूल्य समझनेवाली युवतियों को इसके लिए रोकना नितांत अनुचित है; अपने सौंदर्य को अधिक आकर्षक बनाने के लिए लिपस्टिक, पाउडर जैसी चीजों को वे काम में लाना चाहती हैं और हमें विश्वास है कि इस लालसा की नैसर्गिकता का ध्यान करके पुरुष-वर्ग इसका विरोध नहीं, स्वागत ही करेगा; नाच-सिनेमा, सैर-सपाटा, खेल-कूद, ललित साहित्य का पठन-पाठन आदि के द्वारा वे अपना मनोरंजन करना चाहती हैं और हमें पूरी आशा है कि विश्राम की आवश्यकता समझने और एक न एक उपाय से अपना मनोरंजन करनेवाला समाज इसके लिए भी स्त्रियो का सहर्ष समर्थन करना चाहेगा।

आज की युवतियो की ये इच्छाएँ सर्वथा स्वाभाविक और उचित होते हुए भी पूरी नहीं हो सकी हैं और न निकट भविष्य में इनके पूर्ण होने की आशा ही है। इसके कई कारण हैं। सबसे

प्रधान बात यह है कि नगरो में साठ प्रतिशत से अधिक व्यक्ति मध्यम श्रेणी के हैं जिनकी आय इतनी नही है कि फैशन, सजावट, मनोरंजन आदि के उन उपायो को अपना सकें जो विदेशो में अधिक सस्ते होते हुए भी भारत में अभी मँहगे पड़ते हैं। पाश्चात्य देशो में भी युवतियो के सामने एक दिन यह समस्या आयी थी। वहाँ स्वतः धन पैदा करने की अनुमति पाकर यह प्रश्न हल किया गया। भारत में भी इस या इससे मिलते-जुलते किसी उपाय का सहारा जब तक नही लिया जाता, तब तक मध्यम वर्ग के परिवार में यदि पाश्चात्य रहन-सहन का आकर्षक और उत्तेजक ढंग अपना लिया गया तो स्त्री-पुरुष, दोनो ही घाटे में रहेंगे। जालपा और रमानाथ का फैशन, रहन-सहन, मेल-मुलाकात, सैर-सपाटा, सभी कुछ उनकी हैसियत से बढ़ कर है। युवावस्था की उन्मादभरी अदूरदर्शिता ने उनकी आँखों पर और भी परदा डाल रखा है। रमानाथ का छल, उसकी डीगें, उसका संकोच आदि चरित्र के दोष युवती जालपा को भी अंधकार में रखते हैं। फलस्वरूप आगे-पीछे की ओर से आँख मूँदे वे इतना आगे बढ़ जाते हैं कि जहाँ से लौटना रमा को असंभव प्रतीत होता है और अंत में वह घर से भाग खडा होता है।

इस प्रकार जालपा के आभूषण-प्रेम की एक वर्ग-सुलभ विशेषता को समस्या-रूप में अपनाकर प्रेमचन्द कथा का विकास करते है। बाल्यकाल में यह आभूषण-प्रेम बालिका की सहज प्रकृति से संबंध रखता है। परंतु युवावस्था मे अपने रूप को अधिक दीप्यमान दिखाने की लुभावनी लालसा विशेष प्रधान होकर सामने आती है। हाथ में पैसा है और दिल में जोश। खूब खुलखेली से काम किये जाते है। शृंगार के सारे सामान मौजूद हैं; नाच-रंग, खेल-तमाशा, सिनेमा-थियेटर, सब शुरू हो जाता है। शहर के नामी वकील की युवती पत्नी से मेल-जोल

बढ़ता है ; पार्टियाँ स्वीकारीं और दी जाती हैं। यह सब किया जाता है ऊपर की उस आमदनी के सहारे जिसके बल पर कई आभूषण, घड़ी, साड़ी आदि वस्तुएँ उधार खरीदी गयी थीं। ऋण न चुकने पर तकाजे होते हैं, पिता को पता लगने पर फटकार पड़ती है। फिर भी सब बात अपनी स्त्री से खोलकर कहते उसे संकोच होता है। अंत में रमानाथ को सामने एक ही रास्ता खुला दिखायी देता है ; वह उसी पर चल देता है और पीछे फिर कर देखने की उसकी चाह का गला लज्जा और भय ने इस तरह दबा रखा है कि लौटना तो दूर, चार-पाँच महीने तक वह एक पत्र भी लिखने का साहस नहीं करता।

जालपा का जो आभूषण-प्रेम पारिवारिक जीवन के लिए महान विपत्ति का कारण बनता है, उसके लिए इस युवती को दोष देना युक्ति-संगत नहीं है। वस्तुतः गहनो की लिप्सा ने सर्वत्र नारी-समाज के हृदय में गहरी नीव का घर कर रखा है। 'गबन' के पहले ही परिच्छेद में मानकी चंद्रहार पाकर जीवन धन्य समझती है। बालिका जालपा अपनी माता से यही आभूषण-लिप्सा ग्रहण करती है। उसका परिचय रतन से होता है। इसे गहनो की इतनी चाह है कि तीन-तीन जोड़ी कंगनो के रहने पर भी जालपा के नये डिजायन पर रीझ जाती है। रमा की माता रामेश्वरी का नये आभूषण देखकर संयम खो देना उसके लिए स्वाभाविक ही समझा जायगा ; क्योंकि बेचारी का लगभग पाँच हजार का चढ़ावा गृहस्थी के खर्च में ही समाप्त हो चुका है। देवीदीन की बुढ़िया को 'पेट भी गहनों से नही भरता', एक न एक गहना बूढ़ी होने पर भी वह बनवाती रहती है। देवीदीन के शब्दो में, 'सारांश यह कि सब घरो का यही हाल है। जहाँ देखो—हाय गहने, हाय गहने ! गहनों के पीछे जान दे दें, घर के आदमियों को भूखे मारें, घर की चीजें, और कहाँ तक कहूँ, अपनी आबरू

तक बेंच दें। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, सबको यही रोना लगा हुआ है'—पृ० १४१।

सत्य ही पारिवारिक जीवन की शांति का मीठा रस पान करके गहनो की विषेली लिप्सा जीवित रहती है। सास-ससुर धनी है, पर मेरे गहने न बनवा कर मेरी उपेक्षा करते हैं, केवल इस बात का मिथ्यानुमान करके आभूषणों के लिए लालायित जालपा उनका तिरस्कार करने को प्रस्तुत हो, कहती है—वे मेरे हैं कौन, उनसे बताया ही क्यों जाय कि तुम्हारी (रमानाथ की) नौकरी कितने की लगी है। हाँ, गहने पाने पर स्त्रियाँ प्रसन्न भी होती हैं। जालपा में, दो गहने पाकर सेवा-भाव का उदय होता है। वह पति के आराम की चिंता करती है ; जिन चीजों के लिए रमा को घंटो भटकना पड़ता था, वे उसे तैयार मिलती हैं। वकील साहब की पत्नी रतन भी हार पाकर कृतज्ञता के भार से दब जाती है , पति बूढ़ा है ; उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं ; वह उनके लिए अच्छी-अच्छी चीजें बनाती हैं।

कथा-विकास में सहायक इस उपन्यास की दो प्रधान समस्याएँ हैं। एक, स्त्रियों का आभूषण-प्रेम और दूसरी, मध्यम श्रेणी के कम आयवाले नवदंपति की मनोरंजन के व्यय-साध्य साधनों में अनुभवहीन संलग्नता, उनका फैशन और विलास-प्रेम। देश की वर्तमान स्थिति मे इन दोनो सामाजिक समस्याओं का कम महत्व नही है। प्रथम अर्थात् आभूषण-प्रेम का संबंध स्त्रियो के प्राचीन भारतीय रहन-सहन से है और द्वितीय का प्रचार अँगरेजी शिक्षा-प्रसार के साथ सारे भारत में हो गया है। जालपा का आभूषण-प्रेम उसकी बाल-प्रकृति से संबंध रखता है ; क्योंकि वह ऐसे ही वातावरण में पली है जहाँ गहने ही स्त्रियो के सर्वस्व हैं और पिता उसके खेलने के लिए खिलौने न लाकर गहने ही

लाते हैं। गाँव के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर जब वह प्रयाग जैसे प्रतिष्ठित नगर में रतन-सी स्वच्छंद और धनी नारी के सम्पर्क में आती है तब उसका पूर्व आभूषण-प्रेम, फैशन और विलासिता की अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत और नवीन रुचि में, जिसका निकटतम सम्बन्ध अवस्था और शिक्षित-संस्कृत समाज से है, परिणत हो जाता है। यह परिवर्तन नितांत स्वाभाविक और सामयिक है। आज की सी स्थिति बनी रहने पर मध्यम श्रेणी के परिवार का संबंध एक शताब्दी के लगभग चतुर्थांश तक इस समस्या से अवश्य बना रहेगा। इस दृष्टि से, हम समझते हैं कि 'गबन' की प्रधान समस्या महत्वपूर्ण है।

मध्यम वर्ग की समस्या का एक दूसरा पहलू भी है। अपनी नियमित परंतु अपर्याप्त आय में कठिनता से परिवार का भरण-पोषण करके जीवन के दिन किसी प्रकार बिताना, स्वयं अच्छा खाने-पहनने की इच्छा तथा प्राणप्रिय संतान को, बहुत छोटी-छोटी बातों के लिए जिन्हें मन मारना पड़ता है, खुश देखने की स्वाभाविक लालसा लिये मर जाना, इस जीवन की करुण कहानी के ऐसे दृश्य हैं जो हम अपने परिवार में, चाहे हम कितने ही धनीमानी क्यों न हो, प्रतिदिन देखा करते है। सबसे बड़ी कठिनाई य. है कि इस वर्ग का घनिष्ठतम संबंध उस उच्च वर्ग से है, अधिकांश अवसरो पर जिसके सदस्य विद्या, योग्यता, बुद्धि, यहाँ तक कि चरित्र में भी हीन होने पर, केवल धनी होने के नाते ही, मध्यमवर्ग से ऊँचे समझे जाते हैं। कुछ तो इस संबंध की मर्यादा से लिए और कुछ अच्छा खाने-पहनने, सुख करने की स्वाभाविक मानवीय प्रकृति के फलस्वरूप उन्हें अपनी चादर से अधिक पैर फैलाने पड़ते है। सामाजिक शिष्टाचार का ध्यान, जिसका निबाहना नैतिक दृष्टि से प्रायः आवश्यक हो जाता है और वित्त से बाहर हो जाने पर भी जिसका विरोध करने का

साहस हमें नहीं होता, उनकी स्थिति को और भी दयनीय बना देता है। मध्यमवर्ग का मनुष्य यह सब कुछ समझ-बूझ कर भी नासमझ की तरह अपने को सुखी समझता है—'चरैं हरित तृन बलि पसु जैसे'। प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में अपने ही बनाये गढ़े में इस वर्ग के प्रतिनिधि के गिरने की करुण कहानी कही है।

मध्यवर्गीय समस्या-संबंधी एक और बात ध्यान देने की है। आज से पचास वर्ष पूर्व थोड़ी, पर नियमित, आय होने पर भी लोग संतुष्ट थे और इसलिए उनके जीवन में सुख का अभाव न था। रहन-सहन इनका सीधा-सादा था और आवश्यकताएँ सीमित थीं। आडंबर से इन्हें चिढ़ थी और संगठित परिवार में प्रेम तथा सहयोग से जीवन के दिन बिताया करते थे। बुजुर्गों के देखते-देखते उनके पुत्रों को अँग्रेजी शिक्षा ने नयी रोशनी का बना दिया। नयी चाल की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि निजी परिवारवालों के नाते को ठुकराकर परिचितों और मित्रों से संबंध जोड़ना, सहानुभूति दिखाना, प्रत्युत्तर की आशा करना और सैर-सपाटे, नाच-रंग, सिनेमा-थियेटर, चाय-पानी आदि के लिए निमंत्रित करना और होना अनिवार्य हो जाता है। परिवार के बड़े-बूढ़े भी, जो इन कामों को अपनी अर्थ-हीनता केकारण अनुपयुक्त समझते हैं, बड़े आदमियों से परिचय बढ़ जाने के लोभ से कभी-कभी इनका समर्थन करते हैं—बहुधा पार्टियों में सम्मिलित हो जाने में भी संकोच नहीं करते और कुछ ऐसे परिचयों से लाभ उठाने की आशा लेकर इनमें भाग लेते हैं। सारांश यह कि मध्यमवर्ग के रहन-सहन मे इस प्रकार के परिवर्तन का जो रूप हम व्यावहारिक जगत में देखते हैं उसी की छाया प्रस्तुत उपन्यास में मिलती है। रमा और जालपा का काशी के प्रतिष्ठित वकील की पत्नी रतन से हेल-मेल बढ़ाना, इस प्रसिद्ध व्यक्ति से परिचय के लोभ से दयानाथ का पार्टी में सम्मिलित होना और सिफारिश कराने के

उद्देश्य से रमेश बाबू का रमा को उत्साहित करना, आज के जीवन का नितांत सच्चा चित्र है।

नवीन सभ्यता के संबंध में दो अन्य संकेत भी लेखक ने किये हैं। प्रथम तो यह कि फैशन और विलासिता को जीवन का चरम लक्ष्य समझनेवाला पाश्चात्य रहन-सहन रतन-जैसी उन नारियों के लिए है जिनका पति पर्याप्त धन कमा कर, मनमाने ढंग पर उड़ाने के लिए उन्हें दे सकता है और जो बिना किसी निश्चित उद्देश्य या कार्य के ही सब-कुछ खर्च करने के लिए तैयार रहती हैं। भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थिति में दस हजार में संभवतः एक युवती को यह सौभाग्य प्राप्त होगा और शेष के लिए जीवन का यह रूप ईर्ष्या का ऐसा विषय बना रहेगा जिसकी प्राप्ति संभव नहीं है और जिसका अभाव, जो कुछ है, उसे भी सुख-शांति से भोगने के लिए उत्साहित न कर सकेगा।

प्रेमचंद जी का दूसरा संकेत भी इतना ही स्पष्ट है। घर के संकुचित क्षेत्र से बाहर आकर पुरुष-मात्र से निःसंकोच बात करने और स्थिति समझकर अवसरोचित काम करने का साहस आज की युवतियों को आधुनिक शिक्षा अथवा शिक्षित युवतियों का अनुकरण करने की स्वच्छंदता ने ही दिया है। रमा के भाग जाने पर जालपा का आफिस जाना, सब बात समझकर चौक में आभूषण बेचना और आफिस का रुपया जमा कर देना आदि ऐसी बातें है जो घर के दरबे में बंद रहनेवाली युवती से नहीं बन सकतीं।

हिंदू-समाज की वैवाहिक समस्याओं पर भी लेखक ने परोक्ष रूप से अपने विचार प्रकट किये हैं। निर्धन परंतु शिक्षित रमानाथ की माता जागेश्वरी सोचती है—कोई यहाँ क्यों आने लगा? न धन है, न जायदाद। लड़के पर कौन रीझता है। लोग

तो धन देखते हैं—पृष्ठ ७। ऐसे विवाह में भाग्य पर विश्वास अधिक रहता है। पढ़े-लिखे वर की खोज में सभी माता-पिता रहते हैं; परंतु जालपा की सहेली का पति, जो एम० ए० पास है, सदा रोगी रहता है। रोगी पति से स्त्री कैसे प्रसन्न रहेगी? शिक्षा और धन के संबंध की घनिष्ठता से प्रायः आचरण पर आँच आती है। जालपा की दूसरी सखी का पति जो विद्वान भी हैं और धनी भी, वेश्यागामी है। रतन के मामा ने बूढ़े वकील के साथ उसको व्याहा है। धन की रतन को कमी नहीं है। पति महोदय काशी के सबसे बड़े वकील हैं; इसलिए यह सम्मान और प्रतिष्ठा की बात है। परतु उसके जीवन का भविष्य नितांत अंधकारमय है, शून्य है; जालपा-जैसी उस स्त्री से भी वह गयी-बीती है जिसका पति केवल तीस रुपया मासिक पाता है, घर से भाग गया है, घर में जिसका कोई आदर नहीं है और जिसके परिवार में धन-सपत्ति कुछ भी नहीं है। जालपा अपने पति से संतुष्ट है। वह मामूली पढ़ा लिखा है, बहुत मामूली घर है। सब काम-काज अपने हाथ से करना पडता है। यह सब-कुछ होते हुए भी जालपा के संतोष का कारण यह है कि रमानाथ पत्नी से प्रेम करता है, सच्चरित है और स्वस्थ है। धन और विद्या न देखकर पुत्री के वर में केवल स्वास्थ्य और चरित्र ही देखा जाय, रमा और जालपा के वैवाहिक जीवन-परिचय से लेखक का यह सकेत मान सकते हैं।

अब आर्थिक समस्या पर आइए। भारतीय समाज की वर्तमान अवस्था में सम्पत्ति-वितरण-संबंधी जो विषमता दिखायी देती है उसका एक दुखद परिणाम परोक्ष रूप से इस उपन्यास में दिखाया गया है। जालपा एक सम्मिलित परवार की वधू है जिसके पति की आमदनी थोड़ी है और जिसको खाने-पहनने की वे सभी सुविधाएँ और सुख प्राप्त नहीं है, जो युवती पत्नी और

युवक पति को प्रमुदित करने के लिए, विलास और आनंद के स्तर से उतर कर आवश्यकता की सीमा में आ जाते हैं। दूसरा घर वकील साहब का है जहाँ धन आने के सभी द्वार खुले हैं और युवती पत्नी रतन को सब कुछ इच्छानुसार खर्च करने की पूरी स्वतंत्रता है। संपत्ति के अभाव और आधिक्य, दोनों का दुष्परिणाम उपन्यास में दिखायी देता है, सुखों के प्रति असंतोष और संपत्ति का अभाव जालपा को पति-सुख से वंचित कर देता है। और रतन के लिए पति की मृत्यु के पश्चात् संपत्ति की अधिकता परिवारवालों को ऐसा भयानक जंतु बना देती है जो पति-शोक से पीड़ित विधवा को उसके सुख-साधनों के साथ जीवित ही हड़प जाने में जरा भी संकोच नहीं करता।

सामाजिक जीवन में आज एक खटकनेवाली बात यह है कि अपने को सुखी, संतुष्ट या सम्मान-योग्य वे तब समझते हैं जब विदेशीपन की नकल निभा ले जाने में सफल हो जायँ; कपड़े अच्छे पहनने का शौक होने पर हमें कोट-पतलून, टाई-नेकटाई चाहिए, अपने साज-शृंगार के लिए हैजलीन, वैसलीन, क्रीम, स्नो और न जाने क्या-क्या चाहिए तथा घर के लिए मेज-कुर्सी-कोच, टी-सेट जैसी चीजों की जरूरत होती है। काशी के प्रसिद्ध वकील साहब-से बड़े आदमी से भेंट होने का अवसर आने पर रमा, दयानाथ और रमेश, तीनों मकान को अँगरेजी ढंग से ही सजाने की बात सोचते-तय करते हैं और इस संबंध में लेखक का सुंदर व्यंग्य है कि यह सारा हौसला और शौक पूरा किया जाता है माँगे के सामान के बल पर। किराये के कपड़े पहनकर मर्यादा-निर्माण और निर्वाह का यह ढंग कितना हास्यास्पद है! और फिर भी हमारे समाज का मध्यम वर्ग सहर्ष इसे अपना रहा है, समझता है कि इसके बिना हमारा जीना असंभव है, हमारा जीवन खोखला है, व्यर्थ है।

सबसे अंतिम उपन्यास 'गोदान' है। इसकी रचना हुए अभी तेइस-चौबीस वर्ष हुए हैं। अतः जिन-जिन समस्याओं को लेकर इसके कथानक का संगठन किया गया है, वे स्वतंत्र भारत में जमींदारी प्रथा का अंत हो जाने के पश्चात् भी किसी सीमा तक सामयिक ही बनी हुई हैं। सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न जिस पर इसमें विचार किया गया है, ग्राम-समस्या का है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि', दोनों में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रेमचंद जी पहले भी इस विषय पर भली भाँति प्रकाश डाल चुके थे। परंतु, जिस प्रकार 'रंगभूमि' में 'प्रेमाश्रम' में वर्णित समस्या को छोड़ कर, उसके विकसित रूप की विवेचना की गयी है; दूसरे शब्दों में, जैसे 'प्रेमाश्रम' में ग्राम-समस्या के पूर्वार्द्ध और 'रंगभूमि' में उत्तरार्द्ध पर प्रकाश डाला गया है, उसी प्रकार 'गोदान' में क्रमानुसार जैसा होना चाहिए था, 'रंगभूमि' की समस्या का विकसित रूप नहीं मिलता; प्रत्युत 'गोदान' की समस्या 'प्रेमाश्रम' में वर्णित विषय के ही अधिक समीप है। विशेषता इसमें केवल इतनी है कि उपन्यासकार ने अपने इस अंतिम उपन्यास ('गोदान') में यथावसर थोड़े परिवर्तन भी किये हैं। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय थोड़े से ही व्यक्ति ग्राम-समस्या के प्रश्न पर विचार कर रहे थे; परंतु वर्तमान समय में इसके विपरीत, जनता और कॉंग्रेसी सरकार, दोनों इस विषय में रुचि ले रहे हैं। यही बात 'गोदान' में भी मिलती है। सामाजिक और धार्मिक रचनाओं के विषय में भी यही सत्य है। परिणामस्वरूप 'गोदान' में एक ओर तो ग्रामों की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थितियों की वर्तमान दशा का दिग्दर्शन कराया गया है और दूसरी ओर निकटतमसंबंधित उन नागरिकों के आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा और उद्देश्य-आदर्श का, जो नगरों में शान शौकत से रहते हैं, सुख से जीवन विताते हैं, और शहरों के

पचासों आदमियों को अपना गुलाम समझते हैं। राजनीतिक शब्दावली में इन नागरिकों को पूँजीपतियों के नाम से पुकारा गया है। वर्तमान समय में इनका जो विरोध किया जा रहा है, उसके संबंध में प्रेमचंद जी ने अधिक नही लिखा; परंतु उन्होने यह अवश्य दिखा दिया कि सुधार करने की इच्छा रखनेवाले अधिकांश पूँजीपति अपने शुभ प्रयत्न में किन-किन कारणों से असफल रहते हैं।

'गोदान' की प्रधान समस्या यह दिखलाना है कि भारतीय ग्रामीण और नागरिक जीवन में कितनी विषमता है। ग्राम-निवासी मनुष्यता के नाते अनेक गुणों से विभूषित होने पर भी कुछ तो स्वभाव की सरलता और निष्कपटता के कारण और कुछ अशिक्षा और कायदे-कानून के अज्ञान के कारण, जीवन भर पिसते ही रहते हैं और सबसे बड़ी विडंबना यह है कि प्राणी के जन्मसिद्ध अधिकार की बात तो दूर, वर्ष भर परिश्रम करके अनाज पैदा करने पर भी स्वयं उसकी ओर से कुछ दिन के लिए भी वे निश्चिंत नहीं हो पाते। अपने टूटे-फूटे रूप में प्रचलित प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ने उन्हे एक ओर लूट रखा है—पंडितो का मान रखते और सामाजिक मर्यादा निबाहते बेचारे पिसे जाते हैं और दूसरी ओर वर्तमान अर्थ-वितरण की विषमता ने उन्हे महाजनो के चंगुल में बुरी तरह फाँस रखा है। वर्तमान राजनीतिक प्रगति और अपने अधिकारो की अनभिज्ञता उन्हें सभी तरह के अमानुषिक अत्याचार सहने और फिर भी अपनी दयनीय स्थिति से संतुष्ट रहने के लिए प्रेरित करती रहती है।

'गोदान' के नागरिक पात्र, इसके विपरीत, शोषक वर्ग के हैं जिन्हे शोषित प्राणियो को तड़पते देख कर आनंद आता है और इन्हे सताने से ही जिनका मनोरंजन होता है। किसानों-मजदूरो

से उचित-अनुचित ढंग से उनकी मेहनत की कमाई वसूल करके यह वर्ग गुलछर्रें उड़ाता है, दावतें खाता है, सैर-सपाटे करता है, शिकार खेलता है और सब प्रकार के संघर्षों से निश्चिंत होकर अधिकाधिक धन कमाने के लिए नयी-नयी योजनाएँ बनाता है। मिस्टर खन्ना और प्रोफेसर मेहता, दोनो विभिन्न दृष्टियों से इस वर्ग के प्रतिनिधि हैं। खन्ना के पास बहुत अधिक धन है, इसलिए वह पक्का शोषक है ; अपने मित्रों से भी किसी तरह की रू-रियायत नहीं करता। पर डाक्टर मेहता की शिक्षा और संस्कार मनुष्यता से उन्हें इतना नहीं गिरने देते।

'गोदान' की दूसरी प्रधान समस्या पारिवारिक जीवन के सुख-शांति से संबंध रखती है। खन्ना और गोविंदी का गार्हस्थ्य जीवन किसी तरह सुखी नहीं किया जा सकता। खन्ना कई लाख के आदमी और नयी शुगर मिल के मालिक होकर भी सुखी नहीं हैं, गोविंदी अनेक गुणों से युक्त होकर पति को प्रसन्न नहीं कर पाती। इधर मालती अपने रसिक वर्ग में से मिस्टर मेहता की ओर झुकती है और वे दार्शनिक विवेचना में रत रहते हुए भी विवाह और प्रेम का प्रश्न आ जाने पर भावुकता और सहृदयता-जनित सरलता छोड़कर कठोर परीक्षक के रूप में सामने आते हैं। उपन्यास के अंतिमांश में लेखक ने इसी महत्वपूर्ण समस्या पर सभी दृष्टियों से विचार किया है। के प्रायः सभी परिच्छेदों में घूम-फिर कर इसी विषय पर लेखक के आ जाने से ज्ञात होता है कि उसकी दृष्टि में यह समस्या बहुत महत्वपूर्ण है।

गार्हस्थ्य जीवन को सुखी बनाने के लिए पहला उपाय जो लेखक को सूझा है, वह है अधिक धन से छुटकारा पाना। पूँजी-पति बन कर, लेखक का मत है, कोई व्यक्ति सच्चा सुखी नहीं हो सकता ; क्योंकि इस वर्ग का सदस्य होने का सम्मान प्राप्त करते

ही वातावरण के दोष चरित्र में आने लगते हैं और व्यक्ति के लिए प्राण या जीव से धन का मूल्य बहुत बढ़ जाता है। धन-लिप्सा तीव्र होने पर पूँजीपति वर्ग का प्राणी शारीरिक और मानसिक भोजन के लिए उत्तेजक पदार्थ जितनी रुचि से चाहता और अपनाता है, पौष्टिक खाद्य उतने चाव से नहीं। खन्ना का बार-बार चटक-मटक वाली तितली मालती की ओर लपकना इस कथन की सत्यता का प्रमाण है। परंतु इस वर्ग का व्यक्ति अपने प्रिय पात्रों से स्थायी संबंध नहीं रखना चाहता। ये उसके लिए विलास की अन्य सामग्रियों की भाँति हैं जिनका उपयोग करके वह क्षणिक सुख पाता है। अपना वह अपनी इन प्रेयसियों को कभी नहीं सकता; सभी ढंगों से प्रेम-प्रदर्शन द्वारा अपने प्रति उन्हें आकर्षित करने का प्रयत्न करके भी उनसे स्थायी संबंध स्थापित करना नहीं चाहता। रसिकप्रवर मिस्टर खन्ना भी मालती को 'प्यारा खिलौना' भर समझते हैं।

मेहता और मालती का स्वच्छद प्रेम आज की तीसरी महत्व-पूर्ण समस्या है जिसका संबंध उस शिक्षित समाज से है जिसने भारतीय तो कम, परंतु विदेशी वातावरण का अधिक व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया है, और पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करने वाले समाज में जो प्रायः सरुचि विचरते हैं। मेहता और मालती ने इस जीवन में पदार्पण करनेवालों के दायित्व, कर्तव्य और योग्यता की विवेचना भर कर दी है।

यह स्वच्छंद प्रेम स्त्री-स्वतंत्रता-संबंधी आंदोलन का फल है। सामाजिक जीवन में स्त्री का पति के प्रति कर्तव्य ही मुख्य धर्म समझा जाता है। आज इस कर्तव्य को बंधन समझ कर नारी-समाज स्वतंत्रता चाहता है। दूसरे शब्दों में, आज प्राचीन भारतीय और आधुनिक पाश्चात्य आदर्शों का संघर्ष हो रहा है।

प्रेमचंद जी ने इस समस्या को बहुत अच्छी तरह समझा है। उनका 'गोदान' एक ऐसा रंगमंच है जहाँ इन दोनों आदर्शों से प्रभावित स्त्रियों का संघर्ष दिखाया गया है। मिस्टर खन्ना की स्त्री हमारी भारतीय नारी है जो पति से तिरस्कृत होकर भी पति-सेवा और पुत्र-प्रेम को जीवन का एक मात्र उद्देश्य समझकर अपनाये रहती है; संबंध-विच्छेद के लिए वह न्यायालय जाने की आवश्यकता नहीं समझती। दूसरी ओर मालती है जिसे हम आधुनिक पाश्चात्य रंग मे रँगी फुदकती तितली के रूप में पाते हैं। हमारे मिस्टर खन्ना सरीखे शिक्षित और धनी-मानी सज्जन अपनी बीवी को 'दाल-भात' बताकर मिठाई चाहते हैं और रँग-रेलियों में मस्त मालती-सरीखी 'कुमारियों' के तलुए चाटने में ही जीवन की सफलता समझते है। फलस्वरूप अपनी स्त्री का तिरस्कार करके उन्हे जैसी मानसिक अशांति होती है, उनकी दशा जैसी दयनीय हो जाती है, इसका परिचय हमे खन्ना की कहानी से मिल जाता है।

अशांति और निराशा-प्रदर्शन संबंधी इस कार्य में, सम्भव है, किसी को विचारों की संकीर्णता दिखायी दे। परंतु स्त्री-स्वतंत्रता-विषयक मिस्टर मेहता का व्याख्यान उस सत्य और सूक्ष्म विवेचना का परिचायक है जो भारतीय सामाजिक जीवन को सुखद और उन्नत बनाने तथा प्रचलित सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। अपवाद-स्वरूप धनियों के, जिनकी संख्या भारत में कदाचित् एक प्रतिशत भी नही है, एकाध विवाह को छोड़कर हमें तो यह विदेशी बीज भारत की उर्वरा-फलवंत भूमि मे भी फूलता-फलता नही दिखायी देता। यदि वैज्ञानिक ढंग से इस कार्य में कोई सफलता प्राप्त भी कर लेगा तो उसमें पाश्चात्य कृत्रिमता ही मिलेगी, भारतीय स्वाभाविकता नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रेमचंद जी आधुनिक स्त्री-शिक्षा के विरोधी हैं। इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि शिक्षा का हमारा उद्देश्य स्त्री को उसका कर्तव्य समझाना और पति के कार्य में सहायता करने योग्य बनाना मात्र रहा है। प्रेमचंद जी इसी के पक्षपाती हैं। आधुनिक शिक्षित नवयुवतियों में से कुछ में जैसी लाजहीन उद्दंडता-स्वच्छंदता दिखायी देती है, उसे वे आदर की दृष्टि से नहीं देखते। ध्यान रहे कि स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में बड़ा सम्मान था फिर भी मिस मालती सरीखी शिक्षित नवयुवतियाँ और उनका वाह्य आडंबरपूर्ण शृंगार उन्हे पसन्द नही था। मिस मालती का चित्र देखिए—

दूसरी महिला जो ऊँची एड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुख-छबि पर हँसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। आप इँगलैंड से डाक्टरी पढ़ आयी है और अब प्रेक्टिस करती है। ताल्लुकदारों के महलो मे उनका बहुत प्रवेश है। आप नव-युग की साक्षात् प्रतिमा है। गात कोमल, चपलता कूट-कूट कर भरी हुई, झिझक या संकोच का नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, वला की हाजिर जवाब, पुरुप मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझनेवाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है वहाँ हाव-भाव, मनोद्‌गारो पर कठोर निग्रह, जिसमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया है।

—गोदान (पृ० ८६-६०)

यह है हमारी शिक्षिता, अविवाहिता, नवयुवती का चित्र। आधुनिक स्त्री-स्वतंत्रता-सम्बन्धी आन्दोलन के पक्षपाती पुरुष भी बहुत हैं और स्त्रियाँ भी। अपने हृदय पर हाथ रखकर वे स्वयं सोचें—केवल मौखिक उपदेशों और व्याख्यानों से काम नही चलेगा—कि क्या वे अपनी पुत्री को उक्त मिल मालती बनाना

चाहती हैं ? क्या मिस मालती बनकर अपने गृहस्थ जीवन में उनको अभीष्ट सुख मिल सकेगा ?

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का जो सबसे भयंकर प्रभाव हमारे नवयुवकों और नवयुवतियों पर पड़ा है, वह हमारी सम्मति में यही है कि उन्होंने सम्भवतः भौतिकता को ही प्रधानता देकर गम्भीर अध्ययन, मौलिक विवेचन और सरल आचरण सम्बन्धी प्राचीन भारतीय आदर्श को सर्वथा भुला दिया है। फलतः हमारे पढ़े-लिखे युवकों को फैशनेबुल लेडियाँ, और शिक्षिता-अविवाहिता नवयुवतियों को फैशनेबुल जेंटिलमेन ही पसन्द आते हैं। यदि इस पसन्द का कारण समता, प्रेम, भक्ति, त्याग आदि की नींव होती तो बड़ी सुन्दर बात थी; परंतु यदि इसका कारण क्षणिक भावावेश-सा अज्ञान ही है तब हम उनकी प्रशंसा नहीं करते। प्रेमचन्द जी के विचार भी यही हैं 'गोदान' के मिस्टर खन्ना धनी, सज्जन, शिक्षित, उदार, अधिकारी और जनता की दृष्टि में सभी कुछ है। परंतु उनको अपनी सती-साध्वी स्त्री गोविन्दी से प्रेम नहीं है; हाँ, उनका हृदयोद्यान मिस मालती के कृत्रिम कलरव से अवश्य गूँज उठता है। प्रेमचन्द की दृष्टि में मिस्टर खन्ना का इस प्रकार अपनी पत्नी से विश्वासघात करना सरासर मूर्खता है—घर आए नाग न पूजए, बाँबी पूजन जाय—सा है। सारी परिस्थिति की आलोचना मिस्टर मेहता के मुँह से कराते हुए वे कहते है—

खन्ना अभागे हैं जो हीरा पाकर काँच का टुकड़ा समझ रहे है। सोचिए, (उनकी स्त्री में) कितना त्याग है और उसके साथ ही (पति से) कितना प्रेम है। खन्ना के कामासक्त मन में शायद उसके लिए रत्ती भर स्थान भी नहीं है। लेकिन आज खन्ना पर कोई आफत आ जाय, तो वह अपने को उन पर न्योछावर कर देगी। खन्ना आज अंधे या कोढ़ी हो जायँ तो भी उसकी वफादारी

में फर्क न आयेगा। अभी खन्ना उसकी कद्र नहीं कर रहे हैं, मगर आप देखेंगे, यही खन्ना एक दिन उनके चरण धोकर पिएँगे। मैं ऐसी बीबी नहीं चाहता जिससे मैं आइंसटीन के सिद्धांत पर बहस कर सकूँ, या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी औरत चाहता हूँ, जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से। —गोदान (पृ० २४४)

अतः स्पष्ट है कि यद्यपि प्रेमचन्द जी स्त्रियों के लिए शिक्षा की आवश्यकता समझते थे, परंतु सुप्रसिद्ध अँग्रेजी लेखक जान रस्किन की तरह उनकी स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य भी स्त्रियों को उनके पति-प्रेम का महत्व समझाना था, फैशन अथवा विलासप्रियता की वृद्धि करना नहीं, जिसे आज सभ्यता के अन्तर्गत बताया जाता है। पाश्चात्य देशों की तरह स्त्रियों से वे पैसा नहीं पैदा कराना चाहते थे। इस बात का प्रमाण 'कायाकल्प' में उस स्थान पर मिलता है जब उसका नायक आपकी स्त्री के लेख के पारिश्रमिक सम्बन्धी धन से लाये हुए कंबल को ओढ़ने की अपेक्षा सर्दी में ठिठुरते हुए रात काट देता है। कुछ लोग ऐसे कार्य को लकीर के फकीर का-सा बतावेंगे। परंतु वस्तुतः इसका कारण यह है कि भारतीय समाज में स्त्री के भरण पोषण का अधिकार पुरुष को है। स्त्री यदि स्वयं इसकी चिंता करेगी, स्वयं पैसा पैदा करने का प्रयत्न करेगी, तो भारतीय आदर्श के विपरीत, यह निश्चित है कि पति से स्वाधीन होने का विचार उसमें पैदा होगा, जो क्रमशः किसी न किसी समय, पारस्परिक विरोध का रूप धारण करेगा; इसका परिणाम अंततः कलह है। संभव है, साथ-साथ धन कमाने-वाले दंपति में प्रेम, सहानुभूति और त्याग के सात्विक भाव भी हों; पर ऐसा प्रायः कम ही होता है। कारण, दिन भर के हारे-थके पुरुष की सारी थकावट घर की स्वामिनी की एक मधुर मुस्कान से तो दूर हो सकती है, पर कमाऊ स्त्री के थके-माँदे प्यार

से नही। एक शब्द में, इसका आशय यही है कि प्रेमचन्द जी स्त्री-शिक्षा के पक्षपाती होते हुए भी उसे घर की स्वामिनी बनाना चाहते हैं, बाहर के सार्वजनिक जीवन का ऐसा प्रतिद्वंदी नही जिसको, हम जानते हैं कि कारण-विशेष से सदैव 'प्रिफरेंस' दिया जाता है।

अतः स्वतंत्रता-संबंधी आधुनिक स्त्री-आंदोलन के संबंध में प्रेमचन्द जी की सम्मति है कि स्त्रियाँ स्वतंत्रता के लिए जो आंदोलन कर रही हैं, वह केवल इसलिए कि आज पुरुष-समाज उनका आदर नही करना चाहता; उसमें वे गुण ही नहीं हैं और न है गुण-ग्राहकता। 'गोदान' की मिसेज खन्ना के मुँह से यही बात सुनिए—

वास्तव में पुरुष अपना कर्तव्य भूला हुआ है कि नारी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है। श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। नारी में सेवा, संयम और कर्तव्य, सब-कुछ वही पैदा कर सकता है। अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो नारी में भी रहेगा। नारियो में आज जो विद्रोह है, इसका कारण पुरुषो का इन गुणों से शून्य हो जाना है।

यह विचार अधिकांश में ठीक ही हैं। भौतिकवाद सम्बन्धी पाश्चात्य आदर्श को जीवन का चरम लक्ष्य समझनेवाले नवयुवक स्त्रियों को केवल मनोरंजन का ऐसा मुख्य साधन समझते हैं जो दैवी एवं मानुषी सामाजिक नियमो की सहायता से उन्हे उपलब्ध है। युवावस्था के आवेगपूर्ण उन्माद में वे गार्हस्थ्य जीवन की शांति और सामाजिक उन्नति का विचार न कर नवयुवतियों के मुख्यतः वाह्य रूप और आकर्षण पर मुग्ध हो जाते हैं। परिणामस्वरूप रूप का वाह्य आकर्षण उनकी मदमाती वासना को उत्तेजित तो अवश्य करता है, परंतु संतुष्ट नहीं। उधर मानव-जीवन के समस्त संघर्ष का मूल कारण पूर्ण सुख-प्राप्ति संबंधी उद्योग

है। फल यह होता है कि संतुष्ट न होकर, अन्त में उनका जीवन अशांतिपूर्ण हो जाता है। इस असंतोष और अशांति को दूर करके सुख-सन्तोष प्राप्त करना ही प्रेमचन्द के भारतीय आदर्शों से युक्त स्त्री-समाज का प्रधान उद्देश्य है। इसका उपाय उन्होने मिस्टर मेहता के व्याख्यान द्वारा बता दिया है। नवयुवतियों की शंकाओं का समाधान भी उन्होंने कर दिया है। अपने सामाजिक गृहस्थ-जीवन में जिस शांति और सुख-संतोष के लिए मनुष्य लालायित और प्रयत्नशील रहता है वही प्राप्त करना जिन्होंने अपना जीवनादर्श बना लिया है, या समझते हो, उन्हें मिस्टर मेहता के उस व्याख्यान का सहृदयतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। स्त्रियों की आधुनिक समस्या भी—प्रत्येक प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि से देखनेवाले जिसे आंदोलन के नाम से पुकारते हैं—उससे स्पष्ट हो जाती है और उसके पक्षपातियों की शंकाओं का समाधान करने में भी हम सफल हो सकते हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात वे पुरुषों से भी पूछते हैं। हम क्यों ऐसा समझते है कि स्त्रियों का जीवन केवल भोग-विलास के लिए ही है ? क्या उनका हृदय ऊँचे और पवित्र भावों से शून्य होता है ? वास्तव में हमी ने उन्हें कामिनी, रमणी, सुन्दरी आदि विलाससूचक नाम देकर वास्तविक वीरता, त्याग और उत्सर्ग से शून्य कर दिया है। अगर सभी पुरुष वासनाप्रिय नहीं होते तो सभी स्त्रियाँ वासनाप्रिय क्यों होने लगीं ? ('कायाकल्प', पृ० ४३६)। सत्य ही इन बातों पर सहृदयतापूर्वक विचार करने से ही यह सामाजिक समस्या हल हो सकती है। हमारे सुधारक कोरी लेक्चरबाजी न करके समस्या अथवा आन्दोलन के मूल कारण की, प्रेमचन्द जी की ही तरह, विवेचना करेंगे तभी उन्हें सफलता मिलेगी।

कथा-विकास और प्रासंगिक विषय

प्रेमचंद ने कथा-सामाग्री का चयन मुख्यतः दो प्रकार से किया है। एक, जैसा सभी कलाकार करते हैं, निजी अनुभव और परिज्ञान द्वारा। और दूसरे, विभिन्न सामयिक पत्रों में प्रकाशित आकर्षक घटनाओं के तत्व लेकर। कथानक ही नहीं, पात्रों की गतिविधि और विचारधारा पर भी इस प्रकार का प्रभाव पड़ता है। बात यह है कि प्रेमचन्द जी का जिन व्यक्तियों से परिचय था, अथवा प्रसंगवश कुछ काल के लिए हो गया था, उनके चरित्र अथवा विचारो में जो भी उल्लेखनीय विशेषता उनको मिली, वह उन्होंने सावधानी और सहानुभूति से सूत्ररूप में ग्रहण कर ली, शीघ्र ही कहानी-उपन्यास में ये ही पात्र नाम-रूप बदलकर आ जाते थे। पत्र-पत्रिका के संवादों या टिप्पणियों में प्रेमचन्द जी ने कोई आकर्षक या रोचक बात पढ़ा नहीं कि उनके मस्तिष्क में वह चक्कर काटने लगती और शीघ्र ही परिष्कृत होकर किसी सुंदर कहानी के रोचक कथानक का रूप धर कर सामने आ जाती। घटनाओ का उन्हे केवल सूत्र चाहिए; विकास करने की पर्याप्त क्षमता उनमें थी और इसी रचनाकुशलता के कारण एक संवाद-सूत्र को लेकर उन्होने कभी-कभी विभिन्न दृष्टिकोण से उसके सभी पहलुओ पर विचार करके कई-कई कहानियाँ रची। अपनी इसी प्रतिभा के बल पर प्रेमचंद जी सीमित सामग्री के सहारे थोड़े समय में रचनाओं का विशाल समूह प्रस्तुत कर सके।

उनके उपन्यासों का कथा-स्रोत अनेक धाराओं में होकर प्रवाहित होता है। छोटी-बड़ी घटनाएँ क्षीण और पीन जल-

धाराओं के समान मुख्य प्रवाह से इधर-उधर बहती हुई अपनी परिधि के अंतर्गत बसनेवाले जन-समाज का ध्यान मूल स्रोत की ओर आकर्षित कर उसी में पुनः लीन हो अपना अस्तित्व खो बैठती है। अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में लेखक ने प्रायः एक-एक घटना का ही विकास दिखाया है और एक प्रसंग की समाप्ति के पश्चात् नवीन समस्या सामने रखकर पाठक की उत्सुकता बनाये रखी है। 'निर्मला' में मंसाराम का प्रसंग मूल-धारा की सबसे प्रधान शाखा है। युवावस्था मे पैर रखते पुत्र के, युवती माता से मिलने-जुलने की सूचना पाकर तोताराम के हृदय में शंका का जन्म होता है और अनेक कौतूहलजनक उपप्रसंगों की सृष्टि के पश्चात् बारहवें परिच्छेद में इसका अंत होता है। तेरहवें परिच्छेद से निर्मला, अनुजा कृष्णा के विवाह की समस्या सामने रखकर पाठक का ध्यान उस ओर आकर्षित कर देती है। पश्चात् जियाराम और सियाराम की चर्चा और डाक्टर सिनहा का व्यवहार, दोनो बातें वकील साहब के और निर्मला के भावी जीवन का क्रम और मूल-कथा-विकास की गति-विधि निश्चित करती चलती हैं।

कथा का क्रमशः विकास करके ऐसे स्थल पर ले जाना कि पाठक की उत्सुकता बहुत बढ़ जाय, साँस रोककर वह आगे का हाल जानने को विकल हो जाय, पर लेखक ऐसे ही स्थल पर अध्याय समाप्त करके नये परिच्छेद में कथा का दूसरा नया-पुराना सूत्र पकड़कर कोई नयी बात करना चाहे अथवा पिछला अधूरा प्रसंग पूरा करे, उत्सुकता-वृद्धि का यह ढंग, जो पुराने ढर्रे के ऐयारी-जासूसी उपन्यासो में देखने को मिलता है, प्रेमचंदजी ने नहीं अपनाया। वस्तुतः पाठक की उत्सुकतावृद्धि का प्रबंध कर लेना उपन्यासकार की सफलता का प्रधान कारण है। इसके लिए कई प्रकार के उपायो का सहारा लेखक को लेना पड़ता है। कभी तो वह कथा की भावी गति-विधि के संबंध में अनिश्चयात्मक

संकेत करके अपना उद्देश्य पूरा करता है और कभी कथानक का रोचक ढंग से विकास करके। प्रथम साधन अपने मूल-रूप में उपन्यास के अन्य तत्त्वों से स्वतंत्र है और दूसरा, पात्रों की प्रकृति और परिस्थिति की परिवर्तनशीलता से संबंधित।

प्रथम साधन—कथानक की भावी गति-विधि के संबंध में अनिश्चयात्मक संकेत लेखक ने स्पष्टत. दो रूपो में किये हैं। एक, सांकेतिक स्वप्न द्वारा ; दूसरा, पात्रो की भावी योजना की असफलता-विषयक सूचना देकर। उदाहरण के लिए 'निर्मला' में विवाह की सूचना पाते ही परिवार में कन्या की दयनीय स्थिति पर विचार करते-करते निर्मला दुखी हो जाती है और एक भयानक स्वप्न देखती है कि सामने एक नदी लहरें मार रही है और वह नदी के किनारे नाव की बाट देख रही है। संध्या का समय है। अँधेरा किसी भयंकर जंतु की भाँति बढ़ता चला आता है। वह घोर चिंता में पड़ी हुई है कि कैसे यह नदी पार होगी ; कैसे घर पहुँचेगी। रो रही है कि कहीं रात न हो जाय, नही तो मैं अकेली यहाँ कैसे रहूँगी। एकाएक उसे एक सुन्दर नौका घाट की ओर आती दिखाई देती है। वह खुशी से उछल पड़ती है। ज्योंही नाव घाट पर आती है, वह उस पर चढ़ने के लिए बढ़ती है और उसके पटरे पर पैर रखना चाहती है, उसका मल्लाह बोल उठता है—तेरे लिए यहाँ जगह नहीं है। वह मल्लाह की खुशामद करती है, उसके पैरों पड़ती है, रोती है ; लेकिन वह कहे ही जाता है कि तेरे लिए यहाँ जगह नहीं है। एक क्षण में नाव खुल जाती है। वह चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगती है—नदी के निर्जन तट पर रात भर कैसे रहूँगी, यह सोच वह नदी मे कूद कर उस नाव को पकड़ना चाहती है कि इतने में कहीं से आवाज आती है—ठहरो, ठहरो। नदी गहरी है, डूब जाओगी। वह नाव तुम्हारे लिए नहीं है, मैं आता हूँ। मेरी नाव पर बैठ जाओ, मैं उस पार पहुँचा

दूँगा। वह भयभीत होकर उधर-उधर देखती है कि यह आवाज कहाँ से आयी। थोड़ी देर के बाद एक छोटी-सी डोंगी आती दिखायी देती है। उसमें न पाल है, न पतवार और न मस्तूल। पेंदा फटा हुआ है, तख्ते टूटे हुए, नाव में पानी भरा हुआ है, और एक आदमी उसमें से पानी उलीच रहा है। वह उससे कहती है, यह तो टूटी हुई है, यह कैसे पार लगेगी? मल्लाह कहता है—तुम्हारे लिए यही भेजी गयी है आकर बैठ जाओ। वह एक क्षण सोचती है—इसमें बैठूँ। अंत में वह निश्चय करती है, मैं बैठ जाऊँ। यहाँ अकेली पड़ी रहने से नाव में बैठ जाना फिर भी अच्छा है। किसी भयंकर जंतु के पेट में जाने से तो यही अच्छा है कि नदी में डूब जाऊँ। कौन जाने, नाव पार पहुँच ही जाय, यह सोच कर वह प्राणों को मुट्ठी में लिए हुए नाव पर बैठ जाती है। कुछ देर तक नाव डगमगाती हुई चलती है; लेकिन प्रतिक्षण उसमें पानी भरता जाता है। वह भी मल्लाह के साथ दोनों हाथों से पानी उलीचने लगती है, यहाँ तक कि उसके हाथ रह जाते है, पर पानी बढ़ता ही जाता है। आखिर नाव चक्कर खाने लगती है, मालूम होता है कि अब डूबी, अब डूबी। तब वह किसी अदृश्य सहारे के लिए दोनों हाथ फैलाती है; नाव नीचे से खिसक जाती है और उसके पैर उखड़ जाते हैं। यह स्वप्न निर्मला के भावी जीवन की कथा जानने के लिए पाठक को विशेष उत्सुक बना देता है और वह भी निर्मला की तरह भयभीत होकर सोचने लगता है कि जो सुकुमार किशोरी आज सबसे सुखी है, अच्छे घर ब्याही जाने को है, क्या सचमुच उसका भविष्य इतना अंधकारमय है? क्या उसके जीवन का अंत ऐसा ही दयनीय होगा? यदि हाँ, तो कैसे? दैहिक, दैविक और भौतिक, सभी प्रकार की आपत्तियाँ जीवन में सम्भव हैं। तो देखें कौन विपत्ति निर्मला के भाग्यचक्र को उलट देती है।

इसी तरह का दूसरा स्वप्न मुंशी तोताराम ने मृत्यु-शैय्या पर पड़े पुत्र मंसाराम के सिरहाने बैठकर देखा है। उनकी पहली स्त्री जैसे मंसाराम के सामने खड़ी कह रही है—स्वामी, जिस बालक को मैंने अपना रक्त पिल-पिलाकर पाला, उसको तुमने इतनी निर्दयता से मार डाला। इतना बड़ा अपमान सहकर जीनेवाले कोई बेहया होंगे। मेरा बेटा यह नहीं सह सकता। यह कहते-कहते उसने बालक को गोद में उठा लिया और चली। मुंशी जी ने रोते हुए उसकी गोद से मंसाराम को छीनने के लिए हाथ फैलाया तो आँखें खुल गयी। मुंशोजी का यह स्वप्न पढ़ते-पढ़ते पाठक मंसाराम के जीवन से निराश हो जाता है।

कथा की भावी प्रगति के सम्बन्ध में लेखक ने तीन-चार स्थलों पर पात्रों के प्रतिकूल घटना घटने की बात कहकर पाठक की उत्सुकता बढ़ायी है। वकील उदयभानु ने दस-पाँच दिन के लिए कही जाने का निश्चय करके घर छोड़ा, तब लेखक कहता है—'पर यह कौन जानता था कि यह सारी लीला विधि के हाथों रची जा रही है। जीवन-रंग-शाला का यह निर्दय सूत्रधार किसी गुप्त स्थान पर बैठा हुआ अपनी जटिल गुप्त लीला दिखा रहा है। यह कौन जानता था कि नकल असल होने जा रही है, अभिनय सत्य का रूप ग्रहण करनेवाला है।'

दूसरे प्रकार के उपाय का सहारा सभी उपन्यास-लेखकों को लेना पड़ता है। इस साधन के मुख्य दो रूप प्रायः देखने में आते हैं एक, पात्रों के स्वभाव की विचित्रता के कारण उत्सुकता बढ़ाने वाले साधन; दूसरा, पात्र-पात्रियों की परिस्थिति के सहसा परिवर्तित हो जाने से संबंधित साधन। 'निर्मला' उपन्यास में विवाह के पूर्व और पश्चात् निर्मला के स्वभाव में, युवती पत्नी पाकर मुंशी तोताराम की प्रकृति में और विमाता

के उद्देश्य-आदर्श न समझने के कारण मंसाराम के व्यवहार में नये-नये परिवर्तन होते हैं, निस्संदेह उनसे पाठक की उत्सुकता बढ़ती है। वकील उदयभानु की मृत्यु के पश्चात् परिवार की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने के कारण हम यह जानने को उत्सुक हो जाते हैं कि आबकारी के उच्च पदाधिकारी अब किस तरह इनसे व्यवहार करेंगे। निर्मला के रूप-गुण की चर्चा के साथ पत्नी सुधा की फटकार सुनकर डाक्टर सिनहा का विचार-व्यवहार-परिवर्तन भी उत्सुकता-वृद्धि का दूसरा ही साधन है क्योंकि इसे परिस्थिति बदल जाने का ही परिणाम समझना चाहिए।

उत्सुकता-वृद्धि का एक तीसरा ढंग सुधा-सिनहा का परिचय 'निर्मला' उपन्यास में निर्मला को देकर लेखक ने अपनाया है। सुधा की प्रेरणा से डाक्टर सिनहा भाई का विवाह निर्धन परिवार की कन्या कृष्णा से करने को तैयार हो जाते है, ५००) की सहायता गुप्त रूप से देते हैं। निर्मला इस सहायता को किस रूप में स्वीकार करेगी और सुधा-सिनहा का परिचय पाकर उसकी मानसिक स्थिति में क्या परिवर्तन होंगे, यह सब जानने को हम अन्त तक उत्सुक रहते है। उत्सुकता-वृद्धि का यह तीसरा साधन निस्संदेह पाठक का चित्त चमत्कृत करनेवाला है।

'गबन' उपन्यास की कथा सीधी-सादी है; उसका जन्म सरल ढंग से ऐसी सतर्कता से हुआ है कि कोई अनावश्यक अथवा अप्रासंगिक स्थल उसके प्रवाह में बाधक नहीं होता। स्थल-स्थल पर प्रत्येक घटना की यथार्थता, स्थिति और पात्र-प्रकृति की मनोवैज्ञानिकता व्याख्या द्वारा, लेखक सिद्ध करता चलता है।

नाटक के दृश्यों की तरह उपन्यास के प्रारंभिक अध्याय छोटे हों; उनका कलेवर धीरे-धीरे बढ़ता जाय और मध्यभाग तक

पहुँचने के पश्चात् अलक्षित रूप से क्रमशः घटने लगे—कला की दृष्टि से सम्भवतः यही क्रम पाठकों को रुचिकर होगा। स्थल-विशेष पर प्रसंगानुरूप इस नियम में परिवर्तन करने के लिए लेखक स्वतंत्र है, परंतु खटकनेवाला अंतर कही नहीं होना चाहिए। 'गबन' के प्रथम चार अध्याय कथा की प्रस्तावना-रूप में हैं। इसलिए ये बहुत छोटे—सब दो-सवा दो पेज के—हैं। पाँचवें अध्याय से कथा का वास्तविक आरम्भ समझना चाहिए और यह लगभग छह पेज का है। इसके पश्चात अध्यायो का विस्तार और क्रम बिल्कुल अनिश्चित नहीं है। कथा-विकास के बीच-बीच जो विश्राम-स्थल है, जहाँ से उसकी गति परिवर्तित होती है, वहाँ प्रेमचंद जी ने बड़े-बड़े अध्याय दिये हैं और ऐसे दो अध्यायों के बीच में पूर्व प्रसंगो को साथ लाने के लिए कई छोटे-छोटे अध्यायों का क्रम रखा है जैसे रेल की लम्बी लाइन पर दो बड़े जंकशनो के बीच कई मामूली स्टेशन पड़ते हैं। पंद्रह, अठारह, इक्कीस छब्बीस, चौंतीस संख्यक अध्यायो की पृष्ठ संख्या क्रमशः १७, १३, १६, १२ और १३ है। इनके बीच में जो अध्याय कथा-विकास की अन्य धाराओ को साथ लाने के लिए लिखे गये हैं उनकी पृष्ठ संख्या कम से कम ४ और अधिक ८ है। स्पष्ट है कि अध्यायो का संकोचन और विस्तार लेखक ने उद्देश्य-विशेष से, कथा-विकास की स्थितियो से परिचित कराने के लिए किया है।

कथा-विकास की मोटी-मोटी बातों की विवेचना से अधिक महत्वपूर्ण है पात्रो के मस्तिष्क में उठनेवाले उन आकर्षक और सूक्ष्म भावों की ओर सतर्कता से संकेत करना जो प्रत्येक उल्लेख-योग्य स्थिति में अलक्षित रूप से जन्मते और विलीन होते रहते हैं। इनके चित्रण में वही लेखक सफल हो सकेगा जिसकी अंतर्दृष्टि पैनी और सतर्क होगी। 'गबन' में प्रेमचंद जी ने अनेक

स्थलों पर दृष्टि के इस पैनेपन और उसकी सतर्कता का सुंदर परिचय दिया है। दो-एक उदाहरण देखिए। बरात आने की सूचना पाकर भी नवयुवती जालपा 'बाजों की धोंधों, पोंपो, मोटर की सजधज, फुलवारियों के तखत, आतशबाजियों की फुलझड़ियाँ हवाइयों की सरसराहट, और चर्खियों की चटख' आदि की ओर लेशमात्र आकर्षित नहीं होती। पर इस युवती के अंतर्प्रदेश में एक अभिलाषा अवश्य थी और प्रेमचंदजी से वह छिपी न रह सकी—'वह वर को एक आँख भर देखना चाहती है; वह भी सबसे छिपाकर'—पृ० १०।

संकट में पड़ा व्यक्ति शीघ्र से शीघ्र उससे छुटकारा पाने का उपाय सोचता है। रमानाथ भी गहने चले जाने पर पत्नी की दयनीय दशा देखकर ऐसा उपाय सोच निकालना चाहता है जिससे वह 'जल्द से जल्द अतुल संपत्ति का स्वामी हो जाय। कहीं उसके नाम कोई लाटरी निकल आती! फिर तो वह जालपा को आभूषणों से मढ़ देता। सबसे पहले चंद्रहार बनवाता; उसमें हीरे जड़े होते। अगर इस वक्त उसे जाली नोट बनाना आ जाता तो वह अवश्य बनाकर चला देता'—पृ० ३०।

रमा को म्युनिसिपैलिटी में जगह मिली। बूढ़े मियाँ ने चार्ज दिया और घर चले। उस समय तीस वर्ष की पुरानी जगह छोड़ते हुए खाँ साहब को जो दुख हुआ उसके संबंध में भी प्रेमचंद जी संकेत करना नहीं भूले और साथ-साथ अवस्थाजनित प्रकृति के अनुसार उनसे रमा को शिक्षा भी दिला दी है। कायस्थ का बच्चा रमा कलकत्ते के प्रवास-काल में अपने को ब्राह्मण सिद्ध करता है। सामने सेठ करोड़ीमल की दानशाला है। शीत के कष्टों से पीड़ित होकर रमा एक बार सोचता है—एक कम्बल ले लिया जाय तो क्या हरज? गरीब ब्राह्मण अगर दान का अधिकारी

नहीं तो और कौन है ? यहाँ मुझे कौन जानता है'—पृ० १६३। दूसरे ही क्षण उसका आत्म-सम्मान जाग उठता है और वह कुछ देर वहाँ खड़ा ताकता रहा, फिर आगे बढ़ा। परंतु मुनीम के कहने पर, जबरदस्ती करने पर, जब रमा ने कम्बल ले ही लिया तो दक्षिणा लेने से साफ इनकार ही उसे करते बना। 'जन्म-जन्मांतर की संचित मर्यादा कम्बल लेकर ही आहत हो उठी थी, दक्षिणा के लिए हाथ फैलाना उसके लिए असंभव हो गया'... ....
पृ० १६४

अनुभवी लेखकों के पास लिखने के लिए इतने अधिक प्रसंग रहते हैं कि कथानक के विकास के समय उनके त्याग और चुनाव में बड़ी सतर्कता से उन्हे काम लेना पड़ता है। अप्रासंगिक विषयो को अपना लेने से अथवा विषय-विशेष की व्याख्या को अनावश्यक विस्तार देने से उपन्यास का कलेवर तो बढ़ जाता है, पर उसके अनेक स्थल अरोचक भी हो जाते है। 'गबन' में ऐसे खटकनेवाले स्थल एकाध ही है। इस उपन्यास का आरंभ और विकास इस दृष्टि से प्रेमचंदजी ने बड़ी सुंदरता से किया है। प्रथम पॉच-सात अध्यायो में और उनके बाद भी लेखक को अनेक ऐसे विषय मिलते है—यथा झूले के गीत और उनकी सरसता, मुख्तार दीनदयाल का पारिवारिक जीवन, रमानाथ की दिनचर्या, दयानाथ की आर्थिक कठिनाइयॉ, बरात की सजावट, वैवाहिक तैयारियॉ और धूमधाम आदि—परंतु लेखक ने सर्वत्र दो-चार वाक्यों में संकेत करके ही अपना काम निकाला है और उपन्यास की प्रधान समस्या से इन सबको संबंधित करके इनकी सार्थकता बढ़ा दी है।

सामयिक समस्याओ के संबंध में भी अपने ज्ञान का परिचय देने के अवसर लेखक को पग पग पर मिलते हैं। किसी भी प्रसंग

का वर्णन हो रहा हो, दो-चार वाक्यों में देश, जाति अथवा समाज की सामयिक स्थिति और समस्या अथवा उसके किसी अंग की परिचायक आलोचना कर देना उसके लिए बहुत साधारण बात है। इस वर्णन में लेखक को कुशल उस समय माना जायगा जब उसका कथन उपन्यास-कथा के लिए उस स्थल पर अत्यंत उपयुक्त समझा जाय और पाठक को यह भास न हो कि लेखक किसी उद्देश्य-विशेष से इतने वाक्य लिख गया है। प्रेमचंद जी इस कला में सिद्धहस्त हैं। सामयिक स्थिति के संबंध में लगे हाथ अपना मत प्रकट करने का कोई अवसर पाकर वे चूके नहीं हैं और अपने विचार उन्होंने इतनी सफाई से व्यक्त किये हैं कि सर्वत्र वे स्थिति और पात्रों की प्रकृति से मेल खाते हैं। उदाहरण के लिए क्लर्कों की दशा, जन्माष्टमी के पुण्यावसर पर वेश्या-नृत्य के अनौचित्य के संबंध में अपने विचार उन्होंने इस प्रकार प्रकट किये हैं—

(क) रमा—पहले मुझे क्लर्क पर बड़ी हँसी आती थी, मगर वही बला मेरे सिर पड़ी। डाँट-डपट तो न बताएँगे ?

रमेश—बुरी तरह डाँटता है, लोग सामने जाते काँपते हैं।

रमा०—तो फिर मैं घर जाता हूँ। यह सब मुझसे बरदाश्त न होगा।

रमेश—पहले सब ऐसे ही घबराते हैं, मगर सहते-सहते आदत पड़ जाती है। तुम्हारा दिल धड़क रहा होगा कि न जाने कैसे बीतेगी। जब मैं नौकर हुआ, तो तुम्हारी ही उम्र मेरी भी थी और शादी हुए तीन महीने हुए थे। जिस दिन मेरी पेशी होने वाली थी, ऐसा घबराया हुआ था मानो फाँसी पाने जा रहा हूँ। मगर तुम्हें डरने का कोई कारण नहीं है, मैं सब ठीक कर दूँगा।

(ख) रमेश—आओ जी, रात क्यों नहीं आये ? मगर यहाँ

गरीबों के घर क्यों आते ? सेठजी की झाँकी कैसे छोड़ देते ? खूब बहार रही होगी ?

रमा—आपकी सी सजावट तो न थी, हाँ और सालों से अच्छी थी। कई कथिक और वेश्याएँ भी आयी थी। मैं तो चला आया था, मगर सुना, रात भर गाना होता रहा।

रमेश—सेठजी ने तो वचन दिया था कि वेश्याएँ न आने पाएँगी। फिर यह क्या किया ? इन मूर्खों के हाथों हिंदू धर्म का सर्वनाश हो जायगा। एक तो वेश्याओं का नाच यों भी बुरा, उस पर ठाकुरद्वारे में। छिः छिः ! न जाने इन गधों को कब अकल आयगी।

रमा—वेश्याएँ न हों, तो झाँकी देखने जाय ही कौन ! सभी तो आपकी तरह योगी और तपस्वी नहीं हैं।

रमेश—मेरा वश चले तो मै कानून से यह दुराचार बंद करा दूँ। खैर, फुरसत हो तो आओ, एकाध बाजी हो जाय।

इन दोनों उद्धरणों के प्रथम और अंतिम वाक्यों से स्पष्ट होता है कि दोनो प्रासंगिक विषय हैं जिनकी आलोचना करके लेखक शीघ्र ही अपने मूल विषय पर आ जाता है। इसी प्रकार व्यापारियों की चालें, गहनों का मरज, वकीलों की दशा, डाक्टरों की स्थिति, अँगरेजियत की नकल, सुदेशी-विदेशी की समस्या, आदि पर भी लेखक ने विचार किया है। उपन्यास के आरंभ में जागेश्वरी और दयानाथ के वाद-विवाद से आज की वैवाहिक समस्याओं से हम परिचित होते है। सेठ करोड़ीमल का दो पेज का प्रसंग भी, जिससे मिलमालिकों की दोहरी व्यवहार-नीति का परिचय मिलता है, लेखक ने खटकने से बचाने के लिए रमा के जीवन से संबंधित कर दिया है।

—:o.—

चरित्र-चित्रण और पात्र

प्रेमचंद जी ने सभी वर्गों के व्यक्तियों को अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। सभी से उन्हें मनुष्य के नाते सहानुभूति है, सभी की कठिनाइयों का अध्ययन उन्होंने किया है और सभी के गुण भी उन्होने दिखाये हैं। ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने वर्गगत विशेषताओं का समावेश अपने पात्रों में किया है अर्थात् उनके पात्र अपने वर्ग के प्रतिनिधि हैं और संस्कार-रूप में प्राप्त सभी गुण-अवगुण उनमें वर्तमान हैं। साथ ही, वे मनुष्य हैं जिन पर वातावरण, संस्कार और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है; जिनके निजी विचार हैं, आदर्श हैं, मनोरथ हैं ; एक शब्द में, जो अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखते हैं। प्रेमचंद जी के पात्रों का अध्ययन इसी दृष्टि से करना चाहिए।

संसार में समान स्वभाव वाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। अधिकांश व्यक्तियो के स्वभावो में कुछ न कुछ अंतर अवश्य रहता है। किसी प्रसंग या विषय को आगे बढ़ाने में ये विरोधी प्रकृतिवाले व्यक्ति ही सहायक होते हैं। अतएव कथा-कहानी, उपन्यास-नाटक, सभी में ऐसे पात्रों की संख्या अधिक रहती है। 'गबन' में मुंशी दीनदयाल का स्वभाव अपने समधी महाशय दीनानाथ से बिल्कुल भिन्न है। दीनदयाल कुल ५) मासिक वेतन पाते हैं, फिर भी ऊपर की आमदनी के बल पर उनके पास चार चपरासी हैं, घोड़ा है, गाय-भैंसे हैं। इसके विपरीत, दयानाथ रिश्वत को हराम समझते हैं और उनका दृढ़ विश्वास है कि हराम की कमाई हराम में ही जाती है—पृ० ६।

चरित्र-चित्रण करते समय उन्होने किसी वर्ग के प्रति पक्षपात नही किया। जिस वर्ग के पात्रो से उनकी सहानुभूति है अवसर मिलने पर उनकी बुराइयो की आलोचना करने में भी वे पीछे नही रहे है। किसानो के वे सहायक रहे; परंतु उनके दोषो का स्पष्ट परिचय प्रेमचंद जी की रचनाओ में मिलता है। कही-कही तो बुराइयो और दोषो का चित्रण इतना स्पष्ट हो गया है कि जान पड़ता है लेखक इस वर्ग के दुर्बल अंगो की खोज पहले ही कर चुका था और अवसर की ताक मे था जब वह अपने विचार सामने रख सके। ऐसे स्थलों पर प्रेमचंद जी निर्दय डाक्टर के रूप में सामने आते है। सामाजिक दोषो और बुराइयो की जड़ो पर कुठाराघात किये बिना समाज-शरीर के स्वस्थ होने की आशा नही की जा सकती; समाज-सुधार-कार्य भी तभी संभव है जब सुधारक यह जान ले कि किन-किन दोषो को दूर करने की आवश्यकता है। यही कारण है कि जमीदार, किसान, पुलिस, वकील, डाक्टर, महाजन, शिक्षाधिकारी, राजकर्मचारी आदि सभी के चरित्रो मे घर कर लेने और अपनी जड़ जमा लेने वाले दोषो की उन्होने निर्दय होकर कटु आलोचना की है।

प्रेमचंद जी किसी भी पात्र से केवल श्रद्धा अथवा घृणा नही करते। मानव मात्र में गुण-अवगुण का समन्वय रहता है; इस सत्य को उन्होने अपने उपन्यासों में दृढ़ता के साथ निभाया और तत्परता के साथ प्रचारा है। उनके गिरे पात्र भी कभी-कभी बातें तथ्यपूर्ण ही करते हैं और आचरण भी बुरे पात्र भलो-सा और भले बुरो-सा करते देखे जाते है। इससे आदि से अंत तक स्वाभाविकता बनी रहती है। आचरण की अनिश्चयता को स्वीकारने में किसी को आपत्ति नही हो सकती। मनुष्य प्रायः ऐसी स्थिति में पड़ जाता है, जब स्वभाव के विपरीत कार्य विवश होकर उसे करना पड़ता है। यही बात पात्रो के उन वचनो के संबंध में

कही जा सकती है जो लौकिक व्यवहार की रक्षा के उद्देश्य से ये कहते है। परंतु केवल जानकारी दिखाने या 'सभी विषयो में बोलने का अधिकारी सिद्ध करने' के लिए किसी प्रसंग में गहरी और मार्के की बात अनुपयुक्त या असबंधित पात्र के मुख से सुनकर हम ठिठक जाते हैं। 'गोदान' में उर्दू-दाँ वकील मिस्टर तंखा का हिंदी नाटक, नाट्यकला और रगमंच के संबंध में यह कथन—'नाटक कोई भी अच्छा हो सकता है अगर उसके अभिनेता अच्छे हों। अच्छे से अच्छा नाटक बुरे अभिनेताओ के हाथ मे पड़कर बुरा हो सकता है। जब तक स्टेज पर शिक्षित अभिनेत्रियाँ नही आतीं, हमारी नाट्यकला का उद्धार नहीं हो सकता'—सत्य होते हुए भी अनुपयुक्त व्यक्ति के मुख से कहलाया गया है। यह ठीक है कि अनुभव के आधार पर भी ऐसी आलोचनाएँ की जा सकती है; परंतु मिस्टर तंखा तो ऐसी प्रकृति के है जिन्हें हिंदी नाटक के संबंध में कोई रुचि हो ही नही सकती, अस्तु।

प्रेमचंद जी ने सभी स्थलो पर पात्रो की मानसिक स्थिति का चित्रण संपूर्ण रूप से किया है। चार आदमी बात कर रहे हैं और चारो के विचार, आदर्श, संस्कार, सभी भिन्न हैं। एक की तीखी बात का प्रभाव भी तीनो पर भिन्न पड़ता है। ऐसे स्थानो पर प्रेमचंद जी ने तीनो की मनोवृत्ति की ओर संकेत किया है। एक उदाहरण देखिए। मिस्टर मेहता का स्पष्ट कथन सुनकर 'रायसाहब को आघात पहुँचा, वकील साहब के माथे पर बल पड़ गये और संपादक ओंकारनाथ के मुख में जैसे कालिख लग गयी। वे खुद समष्टिवाद के पुजारी थे; पर सीधे घर में आग न लगाना चाहते थे' (गोदान', पृ० ८५)।

प्रेमचंद जी के चरित्र-चित्रण में ध्यान देने की एक बात यह

है कि धन के लोभियों और भौतिकता के पुजारियों की प्रारंभिक सफलता का बड़ा आकर्षक चित्र उन्होंने खींचा है। धन और सुख प्राप्त करने के हथकंडे जो जानता है उसकी उन्नति में उन्होंने कभी बाधा नहीं दी और प्रायः उसकी इच्छा-पूर्ति के साधन ही सुलभ कर दिये; सुविधाएँ प्रदान कर दीं। परंतु उन्नति करते-करते जब वे काफी ऊँचे पर पहुँच जाते हैं, जहाँ से अपनी ऊँचाई पर उन्हें गर्व होने लगता है, नीचे के लोग उन्हें बहुत क्षुद्र दिखायी देते हैं, वहीं से इतनी बेदर्दी से लेखक ने उन्हें गिरने के लिए झटका दिया है कि जो पात्र साधारण धरातल से जितना ऊपर चढ़ा था, वह उतना ही नीचे गिरता है। पतन का यह क्रम भौतिक सुख-साधनों की नश्वरता के अनुसार निश्चित किया गया है अथवा 'पाप का घड़ा एक दिन भरता ही है' के विश्वास पर अपनाया गया है यह तो हम नहीं कह सकते, परंतु इतना निश्चित है कि उनके उपन्यासों में इसका कोई अपवाद नहीं, कम से कम हथकंडों के बल पर बढ़नेवालों को मानसिक शांति स्थायी रूप से नहीं प्राप्त है।

प्रेमचंद अपने पात्रों का परिचय बड़े रोचक ढंग से देते हैं। कभी-कभी इस परिचय में पात्र-विशेष के पद, स्वभाव, कार्य-पद्धति, स्थिति आदि के संबंध में भी रोचक संकेत रहते हैं। 'गबन' में जालपा के पिता दीनदयाल का परिचय इस प्रकार दिया गया है—'वह किसान न थे, पर खेती कराते थे। जमींदार न थे, पर जमींदारी करते थे। थानेदार न थे, पर थानेदारी करते थे। वह थे जमींदार के मुख्तार। गाँव पर उनकी खूब धाक थी। उनके पास चार चपरासी थे, एक घोड़ा, कई गाय-भैंसे। वेतन कुल पाँच रुपए पाते थे जो उनके तंबाकू के खर्च को भी काफी न होता था'—पृ० ४।

प्रेमचंद्र मानव स्वभाव के कितने बड़े पारखी थे, इसका

परिचय उनकी प्रत्येक कृति में अनेक स्थलों पर मिलता है। विभिन्न संस्कार, स्वभाव और आदर्श वाले इतने अधिक व्यक्तियो का चित्रण उन्होंने अपनी रचनाओ में किया है, कि उनके व्यवहारिक ज्ञान पर पाठक मुग्ध हो जाता है। व्यक्तिगत ही नहीं, सामूहिक प्रकृति संबंधी उनके संकेत भी सर्वथा यथार्थ और स्वाभाविक हैं। ऐसे स्थलो पर भी लेखक का जन-मनोवृत्ति का सूक्ष्म चित्रण आलोचक को विशेष प्रभावित करता है। दोनों प्रकारों—व्यक्तिगत एवं सामूहिक—के स्वभावों के चित्रण में प्रेमचंद जी हिंदी के उपन्यासकारो में बेजोड़ हैं। वर्ग पर जाति, अवस्था, संबंध, आर्थिक स्तर, शैक्षिक स्थिति आदि बातो को ध्यान में रखकर यद्यपि दोनो प्रकार के चित्रणो का पुनः वर्गीकरण किया जा सकता है, परंतु विस्तारभय से यहाँ व्यक्तिगत और सामूहिक, दो ही उपशीर्षकों के अंतर्गत प्रेमचंद जी के मनोवैज्ञानिक चित्रण की विवेचना की जायगी।

'गबन' उपन्यास में व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक चित्रण का बहुत सुंदर उदाहरण प्रथम परिच्छेद में ही मिलता है। माता-पिता के सामने संतान की मंगल-कामना करनेवाला सदैव ही उनका कृपा-पात्र बनकर लाभ उठा सकता है। गाँव मे फेरी लगानेवाला बिसाती बहुत थोड़ी लागत का बिल्लौरी हार बीस आने में बेचना चाहता है। माता कहती है—यह तो मॅहगा है। चार दिन में इसकी चमक-दमक जाती रहेगी।

व्यवहार-कुशल बिसाती मार्मिक भाव से सिर हिलाकर कहता है—बहूजी, चार दिन में तो बिटिया को असली चंद्रहार मिल जायगा।

माता के हृदय पर सहृदयता से भरे हुए इन शब्दों का चोट करना और हार को मॅहगा समझते हुए भी माता का खरीद लेना

कितना स्वाभाविक है, पुत्री के माता-पिता ही इसकी दाद दे सकते है।

चौथे परिच्छेद में भी इस प्रकार के दो-एक संकेत हैं। सज्जनता और सहृदयता का प्रत्येक मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है, इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करता हुआ लेखक कहता है कि जो दीनदयाल उन आदमियों में से थे जो सीधों के साथ सीधे होते है, पर टेढ़ों के साथ टेढ़े ही नही, शैतान हो जाते हैं, उनको भी दयानाथ की सज्जनता वशीभूत कर लेती है और पत्नी से वे स्वीकारते भी हैं—जब उन लोगों ने उदारता दिखायी और लड़का मुझे सौंप दिया, तो मै भी दिखा देना चाहता हूँ कि हम भी शरीफ हैं और शील का मूल्य पहचानते हैं—पृ० ८।

स्वयं दयानाथ भी दीनदयाल की सहृदयता से प्रभावित होते हैं। पुत्र के विवाह में व्यय करने की जो योजना उन्होंने बनायी थी, उसको वे भूल जाते है ; व्यय-संबंधी उनका संयम टूट जाता है और कहाँ तो वे समधियाने से प्राप्त धन से ही पुत्र के विवाह से निपट जाना चाहते थे, कहाँ कोई तीन हजार का सामान ही बनवा डालते हैं।

विवाह के समय वधू की आरंभिक कामना के संबंध में एक संकेत लेखक ने पाँचवें परिच्छेद में किया है। शहर से गाँव में आयी हुई बारात में 'कोई तो बाजों की धों-धों पोंपों सुनकर मस्त होता है, कोई मोटर को आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था। कुछ लोग फुलवारियो के तख्त देखकर लौट जाते थे। आतश-बाजी मनोरंजन का केंद्र थी। हवाइयाँ जब सन्न से ऊपर जातीं, और आकाश में लाल, हरे, नीले, पीले कुमकुमे-से बिखर जाते जब चर्खियाँ छूटतीं और उनमें से नाचते हुए मोर निकल आते, तो लोग मंत्र-मुग्ध-से हो जाते थे। वाह, क्या कारीगरी है ! परंतु

वधू जालपा के लिए इन चीजों में लेशमात्र भी आकर्षण न था। हाँ, वह वर को एक आँख देखना चाहती थी और वह भी सबसे छिपाकर; पर उस भीड़-भाड़ में ऐसा अवसर कहाँ! द्वारचार के समय उसकी सखियाँ उसे छत पर खींच ले गयीं और उसने रमानाथ (वर) को देखा। उसका सारा विराग, सारी उदासीनता, सारी मनोकथा मानो छू-मंतर हो गयी। मुँह पर हर्ष की लालिमा छा गयी—पृ० १०–११।

जन-मनोवृत्ति का परिचय 'गबन' के पाँचवें परिच्छेद में मिलता है। जालपा का चढ़ाव देखने के लिए स्त्री-पुरुष, बूढ़े-जवान, सब उत्सुक हो उठते हैं मानकी जब एक-एक चीज निकाल निकालकर देखने और दिखाने लगती है, तब सभी इस प्रकार आलोचना करते है जैसे उनसे बढ़कर ज्ञाता कोई हो ही नहीं सकता—वहाँ सभी इस कला के विशेषज्ञ थे। मर्दों ने गहने बनवाये थे, औरतों ने पहिने थे, सभी आलोचना करने लगे। चूहेदंती कितनी सुंदर है, कोई दस तोले की होगी। वाह! साढ़े ग्यारह तोले से रत्ती भर भी कम निकल जाय तो कुछ हार जाऊँ। यह शेरदहाँ तो देखो, क्या हाथ की सफाई है। जी चाहता है, कारीगर के हाथ चूम लें। यह भी बारह तोले से कम न होगा। वाह! कभी देखा भी है, सोलह तोले से कम निकल जाय तो मुँह न दिखाऊँ। हाँ, माल उतना चोखा नहीं है। यह कंगन तो देखो। बिलकुल पक्की जड़ाई है; कितना बारीक काम है कि आँख नहीं ठहरती! कैसा दमक रहा है! सच्चे नगीने हैं। झूठे नगीनों में यह आब कहाँ! चीज तो यह गुलूबंद है, कितने खूबसूरत फूल हैं! और उनके बीच के हीरे कैसे चमक रहे हैं। किसी बंगाली सुनार ने बनाया होगा। क्या बंगालियों ने कारीगरी का ठेका ले लिया है? हमारे देश में एक से एक कारीगर पड़े हुए है। बंगाली सुनार बेचारे उनकी क्या बराबरी करेंगे—पृ० ११।

उक्त अवतरण में उपस्थित समूह में से प्रत्येक व्यक्ति का स्वर जैसे सुनायी पड़ता है। अपनी अपनी योग्यता का परिचय देना, दूसरे की बात काटना और अपने कथन की पुष्टि के लिए जोरदार शब्दों में कभी शर्त बदना और कभी कसम खाना आदि सभी बातें, जन-मनोवृत्ति-संबंधी लेखक के परिज्ञान की सूचक हैं।

× × × ×

'गबन' में उच्च, मध्य और निम्न तीनों वर्गों के पात्रों का सामाजिक जीवन चित्रित है और सभी की समस्या, वर्तमान स्थिति, वर्गगत और निजी विशेषताएँ दिखलायी गयी हैं। वकील साहब और रतन उच्च वर्ग के प्रतिनिधि हैं; धन जिनके पास खूब है, पर जिन्हें जीवन में सुख नहीं मिलता। इस वर्ग का ईश्वर और धर्म पर विश्वास नहीं-सा है। अपनी प्रसन्नता खरीदने के लिए इसके पास धन है जिसे वह पानी की तरह बहा सकता है। धनियों के सम्मिलित परिवार में विधवा की स्थिति का परिचय देने के लिए नये पात्र मणिशंकर से लेखक ने हमारी भेंट करायी है। रतन की अकाल मृत्यु का मूल कारण भतीजे मणिशंकर के व्यवहार की अर्थ-लोलुपता-जनित कुटिलता मानी जा सकती है।

खटिक देवीदीन और जग्गो निम्न वर्ग के पात्र हैं। इसी वर्ग के पात्र आज परिश्रमी हैं, स्वस्थ हैं, सीधे-साधे पूर्वसंस्कारयुक्त हैं और ठोस भी हैं। जग्गो दिन में सोलह घंटे परिश्रम करती है और इसी लिए फटे कपड़ों पर सोनेवाले देवीदीन की मालियत पंद्रह-बीस हजार की है। धर्म-कर्म पर इस वर्ग की आस्था है; तीर्थ-व्रत में इसे विश्वास है और दया-ममता की स्वाभाविक वृत्तियों का लोप भी इस वर्ग के हृदय से नहीं हुआ है। उच्च वर्ग वाला मणिशंकर जहाँ अपनी चाची को उसी का धन हड़पकर

भिखारिणी बना देता है, वहाँ देवीदीन और जग्गो अपरिचित रमा को महीनों अपने घर रखते हैं ; उसे छुड़ाने के लिए हजार-पाँच सौ खर्च करने को सहर्ष तैयार हैं। अपनी ही नहीं, देश की चिंता भी इन्हें है और इनमें से कुछ को अपने सिद्धांत इतने प्रिय हैं कि 'विदेशी दियासलाई भी इनके यहाँ नही आती'। दिन रात हजारों आदमियों से सामना होने के कारण इनका सांसारिक अनुभव खूब बढ़ा-चढ़ा है और सेठ करोड़ीमल-जैसों की नस-नस की पहचान इन्हें है।

देश में मध्यम वर्ग वालों की संख्या अधिक रहती है। इस-लिए मध्यम वर्ग के दयानाथ के परिवार की कथा से ही पुस्तक का अधिकांश भरा है। हमारा मध्यम वर्ग आज सभी बातों में खोखला है। शिक्षा, धन, स्वास्थ्य, सुख सभी से यह वंचित है। केवल पिसते रहना इस वर्ग के पात्रों के भाग्य में बदा है।

मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति बड़ी नाजुक होती है। ईमानदारी से उनको सिर्फ इतना ही पैसा मिलता है कि वे बहुत साधारण ढंग से खा-पहन लें ; सो भी उस दशा में जब बच्चों की संख्या एक-दो ही हो। बढ़िया खाना-पहनना, किसी तरह का शौक करना, सैर-सपाटे को जाना जसी बातें तो दूर, वह अपने बच्चो की पढ़ाई-लिखाई का भी उचित और मनचाहा प्रबंध नही कर सकता। ५०) मासिक-पानेवाले मुंशी दयानाथ का परिवार बहुत छोटा है—पति-पत्नी और तीन बच्चे ; फिर भी उनका काम बहुत मुश्किल से चलता है और बड़ा पुत्र रमानाथ दो महीने ही कालेज में रह पाता है, क्योंकि पिता दयानाथ उसकी पढ़ाई के लिए दूसरो को भूखा-नंगा नहीं रख सकते।

यही नहीं, पत्नी या बच्चों के साधारण चाव-हौसले भी वे पूरा नहीं कर पाते। दयानाथ के लड़के अच्छे कपडों को तरसते

हैं, उनकी स्त्री गहनों को तरसती है और सबको मन मारकर रह जाना पड़ता है। पुत्र के विवाह का हर पिता को चाव होता है; परंतु मध्यम वर्ग का पिता दयानाथ युवक पुत्र रमानाथ का विवाह भी टालना ही चाहता है; क्योंकि उसके पास न रुपए हैं और न एक नये परिवार का भार उठाने की हिम्मत ही।

धन न होने की शिकायत दयानाथ को जीवन भर रहती है। पुष्टिकारक भोजन न मिलने और चिंताओं से घिरे रहने के कारण मध्यम वर्ग के पात्र स्वस्थ और सुखी नहीं होते। अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए इन्हे रिश्वत लेनी पड़ती है; परंतु भारतीय संस्कारों के मध्य पलने के कारण छोटी से छोटी दुर्घटना की आशंका इन्हे भयभीत कर देती हैं। निम्न वर्ग वालों से ये अपने को ऊँचा समझते हैं और गोपीनाथ कलकत्ते जाकर देवीदीन के नाम के साथ 'खटिक' सुनकर चौंक पड़ता है; परंतु बड़ों की अँगरेजियत की नकल किराये के सामान के बल पर करके अपनी दयनीय स्थिति की वास्तविकता छिपाते इस वर्ग के पात्रों को लज्जा नहीं आती और मजा यह है कि रमेश और दयानाथ जैसे पात्रों ने अँगरेजी कमरे देखे भी नहीं हैं। हाथ से काम करने में मध्य वर्ग वाले आज शरमाने लगे हैं और रामेश्वरी अपने रोगी पति के लिए पाव भर आटा भी हाथ से पीसना स्वीकारने में सकुचाती है।

मध्यम वर्ग का भारतीय प्रायः ऐसे वातावरण में पलता है कि धर्मभीरुता उसके स्वभाव का अंग बन जाती है। जिस कार्य को धर्म या नीति के ग्रंथों ने अनुचित बताया है और शुद्धात्माओं ने जिसे बुरा ठहराया है, उसको परिस्थितिवश करने के पश्चात् यदि अकस्मात् उसका या उसके परिवार के किसी प्राणी—विशेष रूप से अल्पवयस्क संतान—का कुछ अनिष्ट हो जाय, तब वह

मध्यमवर्गीय व्यक्ति उस कार्य को सदा के लिए त्याग देता है। 'गबन' के महाशय दीनदयाल ने 'एक गरीब आदमी को इतना पिटवाया कि वह मर गया।' उसके तीन वर्ष के अंदर उनके तीन लड़के जाते रहे; तब से बेचारे बहुत सँभलकर चलने लगे—पृ० ४। इसी प्रकार मुंशी दयानाथ भी रिश्वत को इसीलिए हराम समझते हैं, क्योंकि इसके कुफल—जैसे संतान से हाथ धोना—देख चुके थे। उन्हे ऐसी कोई मिसाल ही न मिलती थी जिसने रिश्वत लेकर चैन किया हो। उनकी यह दृढ़ धारणा हो हो गयी थी कि हराम की कमाई हराम मे ही जाती है—पृ० ६।

'गबन' में व्यापारियो के भी तीन वर्ग हैं—निम्न वर्ग जिसमें देवीदीन है, मध्यम वर्ग जिसके प्रतिनिधि वे सर्राफ हैं जिनसे दयानाथ और रमानाथ गहने खरीदते है और उच्च वर्ग जिसका प्रतिनिधि है वह कलकतिया सेठ जिसके यहाँ से रमानाथ दान का कंबल लाता है। निम्न और मध्यम वर्ग के व्यापारियो से तो लेखक ने हमारा प्रत्यक्ष परिचय करा दिया है; परंतु उच्च वर्ग के सेठ करोड़ीमल की तारीफ देवीदीन ने इन शब्दो में की है—'उसे पापी कहना कहना चाहिए, महापापी। दया तो उसके पास से होकर भी नही निकली। उसकी जूट की मिल है। मजूरों के साथ जितनी निर्दयता इसकी मिल में होती है और कहीं नहीं होती। आदमियो को हंटरो से पिटवाता है, हंटरो से! चरबी मिला घी बेचकर इसने लाखो कमा लिये। कोई नौकर एक मिनट की भी देर करे तो तुरंत तलब काट लेता है। अगर साल में दो-चार हजार दान न कर दे तो पाप का धन पचे कैसे—पृ० १६५।

मध्यम वर्ग के व्यापारी कितने चतुर होते हैं, उनकी बातें

कितनी काइयाँपन से भरी होती है, इसका पता दयानाथ और रमानाथ के प्रति किये गये उनके व्यवहार से चल जाता है।

'गबन' के प्रथम अध्याय में ही एक साधारण बिसाती गाँव की स्त्रियों के हाथ 'कच्चे मोतियों के गहने, कच्चे लैस और गोटे, रंगीन मोजे, खूबसूरत गुड़ियाँ और गुड़ियों के गहने, बच्चों के लट्टू और झुनझुने' (पृ० ३) आदि बेचने आता है। गाँव-गाँव फेरी लगानेवाला यह व्यापारी निम्न वर्ग मे ही आ सकता है। बात करने में यह भी बहुत कुशल है और इसीलिए मुँह माँगे दाम वसूलने में वह सफल भी हो जाता है। परंतु मातृ-हृदय के पारखी इस साधारण फेरीवाले ने इतनी सुंदर बात कही है कि कोई भी प्राणी उसको पुरस्कार-रूप में ही हार का सारा मूल्य देने को सहर्ष तैयार हो जायगा। फिरोजी रंग के चंद्रहार का दाम बीस आने सुनकर बालिका जालपा की माता ने कहा—यह तो बड़ा महँगा है। चार दिन में इसकी चमक-दमक जाती रहेगी।

इस पर बिसाती मार्मिक भाव से सर हिलाकर कहता है—बहूजी, चार दिन में तो बिटिया को असली चंद्रहार मिल जायगा।

वेश्याओं की गिनती समाज के बाहर है। इस लिए जोहरा को हम उक्त तीनों वर्गों मे नहीं रख सकते। ऐसी स्त्रियों का सम्मान लुकछिप कर किया जाता है; पर समाज के सामने वे अपमानित और तिरस्कृत समझी जाती हैं। भले घरों में उनके प्रवेश का निषेध है, यद्यपि हमारा धनी वर्ग कृष्ण-जन्म जैसे शुभ अवसरों पर उनका स्वागत करने को सदैव सहर्ष तैयार रहता है। जोहरा में अपनी समव्यवसायिकाओं-से दोष भले ही हों; परंतु प्रेमचंद जी ने उसका चित्रण इस ढंग से किया है कि उसके सौजन्य और निष्कपट व्यवहार से प्रभावित होकर पाठक भी

रमानाथ के साथ कहना चाहता है—मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उस तरफ से प्रकाश मिला जिधर से औरो को अंधकार मिलता है। विष में मुझे सुधा प्राप्त हो गयी!

× × ×

रमा, जालपा, रतन और देवीदीन इस उपन्यास के प्रधान पात्र हैं; रमेश, बुढ़िया और जोहरा अप्रधान। शेष केवल राह चलते दिखायी देते हैं जिन्हें उपन्यास के प्रमुख पात्र-पात्रियों से बात करते देख पाठक उनकी ओर देखता है; इसी समय वे अपना कार्य समाप्त कर चले भी जाते हैं। प्रमुख पात्रो के वचन और कर्म को व्यक्त कराते समय लेखक को बड़ी सावधानी से काम करना पड़ता है। विशेष स्थितियो में लेखक की असावधानी से पात्र के मुँह से निकली हुई एक आह अथवा माथे पर पड़ी हुई केवल एक सिकुड़न उपन्यासकार का सारा श्रम मिट्टी में मिला सकती है। ऐसे अवसरों पर प्रेमचंद जी ने बड़ी सतर्कता से काम लिया है। रमा के चले जाने के पश्चात् सास-ससुर दिन-रात जालपा को कोच रहे हैं। एक दिन सराफो के तकाजों से परेशान होकर दयानाथ उसे डाँट बैठे—हजारो का कर्ज है। बाहर निकलना मुश्किल है। आज मैंने साफ कह दिया कि मैं कुछ नहीं जानता; मै किसी का देनदार नहीं हूँ। जाकर मेम साहब से माँगो। ससुर के कठोर शब्द सुनकर जालपा तिलमिला कर कहती है—जी हाँ, आप उन्हे सीधे मेरे पास भेज दीजिए। रतन इसी समय आ गयी। आते ही उसने कंगन का जिक्र छेड़ा—मुझे बाजार में तुम्हारा-जैसा ही कंगन लेना है। जालपा मन ही मन कंगन बेचने का निश्चय कर लेती है। रतन को कंगन चाहिए और जालपा को रुपया; दोनो का काम हो गया। परंतु रतन आधा ही रुपया देने को तैयार है। इस पर भी जालपा ने दीनता का एक ऐसा शब्द मुँह से नहीं निकाला, माथे पर एक

भी वल न पड़ने दिया जिससे घर का परदा खुलता, ससुर का अपमान होता, उसी के आत्माभिमान को ठेस लगती या अपनी सखी के सामने इस विपत्ति में भी उसे दीन बना पड़ता ; उलटे उसने चार बार यही जताया कि तुम्हारे स्नेह की रक्षा के लिए मैं कंगन वेच रही हूँ। इस तरह कुल-मर्यादा की रक्षा उसने कर ली और साथ ही रतन को कृतज्ञ भी बना लिया। साधारण स्त्री अपनी दीनता की कहानी कह कर चाहे रतन की सहानुभूति अधिक पा लेती, परंतु पाठक की श्रद्धा खो देती। पिता दीनदयाल के सामने मायके जाने या किसी तरह की सहायता लेने से इनकार करके उसने कुल-प्रतिष्ठा-रक्षा करने और आत्माभिमानी होने का दूसरा परिचय दिया है।

एक गल्ती करने के पश्चात् संकोच के कारण उसे स्वीकारने का जिसे साहस नहीं होता वे फिर बार-बार भूलें करते हैं। एक छोटी सी विगड़ी बात को बनाने के लिए उन्हें दस झूठी-सच्ची गढ़नी हैं ; यहाँ तक कि साधारण पाठक भी उनकी मूर्खता पर, जिसे पात्र-विशेष अपनी 'विवशता' समझता है, बार बार झुँझला जाता है। 'गबन' के नायक रमानाथ के चरित्र की जटिलता का यही रहस्य है। उसकी सबसे पहली भूल है नवविवाहिता पत्नी से अपने घर की सच्ची दशा छिपाकर आर्थिक स्थिति के संबंध में बहुत बढ़-बढ़ कर बातें करना। कुछ दिन बाद ही सराफ के रुपए अदा करने का भयंकर प्रश्न सामने आता है। रमा में इस समय यदि स्त्री के सामने सारा कच्चा चिट्ठा कह सुनाने का साहस होता तो सारी स्थिति सम्हल जाती, पर वह अपनी हाँकी हुई डींगों का भेद खुलने न देने के लिए चोरी-जैसा निंदनीय कर्म कर डालता है। इसके पश्चात्, इन दोनो को छिपाने के लिए चार और चारो की सत्यता सिद्ध करने के लिए दस झूठी बातें बनाता चल। जाता है। लेखक के इस चरित्र-चित्रण की विशेषता यह है

कि उसने बार-बार रमा की विवशता की व्याख्या ऐसे ढंग से कर दी है जिससे पाठक हर बार झुँझलाकर भी रमा के प्रति सहानुभूति का भाव बनाये रखना चाहता है।

मनुष्य परिस्थितियों का दास है। निजी दुर्बलताएँ भी उसे दबाये रहती है; उस पर यदि इच्छाशक्ति की दृढ़ता उसमें न हुई तो फिर कुशल नहीं। कठपुतली की तरह कभी वह परिस्थितियों के इशारे पर नाचता है और कभी दुर्बलताओं के। कभी-कभी मानवोचित उदारता के वर्तमान रहने पर भी यदि हाथ तंग हो तो मनुष्य की प्रकृति सकोचशील हो जाती है, और ऐसे कार्य उससे करा लेती है जिनके लिए मन न पहले से तैयार था और न अपनी वास्तविक स्थिति देखकर जिनका अब भी समर्थन करता है? 'गबन' में रमा के संबंध मे ये सभी बातें सत्य हैं। आर्थिक स्थिति अच्छी न रहने पर भी मित्रों के सत्संग से फैशन की चाह और पैसे लुटाने की चाट, जिसका पूरा संबंध लापरवाही से है, उसमें ऐसी पड़ जाती है जो अंदर ही अंदर जड़ जमा लेती है और हाथ में पैसे आते ही वह इन दोनों के बंधन में जकड़ जाता है। विवाह के अवसर पर युवावस्था की उमंग का साथ पाकर परिस्थिति रमानाथ से आवश्यकता और हैसियत से कहीं ज्यादा पैसा खर्च करा लेती है जिसका परिणाम यह होता है कि रमा को अपनी उसी भोली-भाली और विश्वासमयी पत्नी के गहने चुराने पड़ते हैं जो एक चंद्रहार के बिना रूठी बैठी है, मान कर रही है। लेखक इस परिणाम द्वारा जैसे संकेत करता है कि यदि भविष्य में भी इसी प्रकार का रंग-ढंग बना रहा तो यही नतीजा सामने आयगा।

परंतु युवावस्था की प्रेममयी रसिकता हृदय की उदारता के संयोग से इतनी प्रबल हो जाती है कि रमानाथ को चेतने नहीं

देती। सौभाग्य से आमदनी की जगह पा जाने के कारण उसकी उदारता और भी बढ़ जाती है। दफ्तर में वह मित्रों के लिए खर्च करता है और घर पर, सखियों-सहेलियों के लिए जालपा। उधार दिन-दिन बढ़ता जाता है, पर रमा को चुकाने की चिंता नहीं है; यदि चिंता होती भी तो उसके हाथ में दाम नहीं थे। इस तरह उसकी अनुभवहीनता क्लर्की जीवन का यह रहस्य उसे जानने नहीं देती कि बेचारे के भाग्य में इकट्ठी रकम बदी ही नहीं होती और अपनी प्रकृति के विरुद्ध कौड़ी-कौड़ी जोड़ने पर ही वह रुपए बना सकता है। रमा रुपए भुनाना जानता है, बनाना नहीं। आगे चलकर उसकी रसिकता रूपवती पत्नी को शिक्षित और स्वच्छंद नारी-समाज में ससम्मान अर्थात् उन्हीं की तरह साज-शृंगार किये, ठाट-बाट बनाये, और पैसा खर्चने को हर समय तैयार, घूमने के लिए सप्रेम, सचाव और ससहयोग स्वीकृति देती है। मध्यमवर्ग की सीमित, नियमित, और अवृद्धिशील आय इतना बोझ सम्हाल नहीं पाती और अंत में रमा को घर छोड़कर भागना ही पड़ता है।

प्रश्न है कि रमा की बार-बार भूल पर पाठक को झुँझलाहट क्यों होती है? क्या वह मानवीय प्रकृति की उस दुर्बलता से अपरिचित है जो परिस्थिति की विवशता से जकड़ कर वित्त से बाहर काम उससे करा लेती है? अथवा लेखक द्वारा चित्रित रमा चरित्र अस्वाभाविक है? वास्तव में रमा की बार-बार भूल पर पाठक को झुँझलाहट इसलिए होती है कि वह उन सभी कार्यों को आवश्यक समझता है जिनके पीछे रमा ने अपनी हैसियत से ज्यादा काम करने में अपनी शान समझी है। पाठक बार-बार चाहता है कि रमा अब भी चेत जाय; दूरदर्शी और बुद्धिमान बने; पर उसकी यह इच्छा पूरी नहीं होती। इस संबंध में प्रेमचंद जी के चरित्र-चित्रण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि

उपन्यास के आदि से अंत तक पाठक की पूर्ण सहानुभूति नायक रमानाथ के साथ ही रहती है ; उसको सुख में देखकर वह स्वयं पुलकित हो उठता है और दुख से चिंतित या पीड़ित देखकर विकल हो जाता है।

प्रेमचंद की चरित्र-चित्रण-कला बिल्कुल सीधी-सादी है। उनके पात्र अवस्था और स्थिति के अनुसार कार्य कर जाते हैं और इसके पश्चात् पुरुष अथवा स्त्री-प्रकृति के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों की व्याख्या करके वे सिद्ध करते है कि अमुक स्वभाव वाला पात्र ऐसी स्थिति में यही कार्य करता। एक उदाहरण से लेखक का यह ढंग स्पष्ट हो जायगा। पति की नौकरी लग जाने के बाद जब तीन महीने तक जालपा के लिए कोई आभूषण नहीं बनता तब वह सोचती है कि पति को मेरी परवाह नहीं है। जन्माष्टमी के उत्सव में जब उसे अकेले छोड़ कर घर के सभी लोग चले जाते हैं तब जालपा को जान पडता है, मानो घर भर में किसी को मेरी परवाह नही है। दुख के इस आवेश में अपनी दयनीय दशा का हाल वह सखियों को लिख भेजती है। उसके इस कार्य की स्वाभाविकता' लेखक ने इस प्रकार सिद्ध की है—मित्रों से अपनी व्यथा कहते समय हम बहुधा अपना दुख बढ़ा कर कहते है। जो बातें परदे की समझी जाती हैं, उनकी चर्चा करने से एक तरह का अपनापन जाहिर होता है। हमारे मित्र समझते हैं, हमसे जरा भी दुराव नहीं रखता और उन्हें हमसे सहानुभूति हो जाती है। अपनापन दिखाने की यह आदत औरतो में कछ अधिक होती है—पृ० ५८।

प्रेमचंद के स्त्री-पात्रों की एक और उल्लेखनीय विशेषता है उनका पुरुषों से अधिक व्यवहार-कुशल होना। 'गबन' की जागेश्वरी अपने पति दयानाथ से व्यवहार में कहीं अधिक चतुर

है। दयानाथ धन के अभाव में पुत्र का विवाह टालना चाहते हैं; परंतु जागेश्वरी इतनी हतोत्साह नहीं है। पति की दलीलों का उस पर कोई असर नहीं होता और वह समझा देती है कि तुम्हे न करार करना पड़ेगा, न मुँह से माँगना होगा; लड़कीवाला खुद ही जरूरत भर का धन दे देगा। यह सब जागेश्वरी आत्म-विश्वास के साथ इसलिए कहती है, क्योंकि उसकी व्यावहारिक बुद्धि जानती है कि लड़की के ब्याह में पैसे का मुँह कोई नहीं देखता। हाँ, मकदूर चाहिए; सो दीनदयाल पोढ़े आदमी हैं। और फिर उनके यही एक संतान है, बचाकर रखेंगे तो किसके लिए—पृ० ७। दयानाथ जब गहनों की समस्या उठाते हैं तब जागेश्वरी इस बाधा को मानो हवा में उड़ाकर कहती है—मुझे तो विश्वास है कि वह टीके में एक हजार से कम न देंगे। तुम्हारे टीमटाम के लिए इतना बहुत है। गहनों का प्रबंध किसी सराफ से कर लेना। टीके में एक हजार देंगे, तो क्या द्वार पर एक हजार भी न देंगे? वही रुपए सराफ को दे देना। दो-चार सौ बाकी रहे, वह धीरे धीरे चुक जायँगे। बच्चा के लिए कोई न कोई द्वार खुलेगा ही—पृ० ८।

अंतिम वाक्य जागेश्वरी ने तो कहा था दयानाथ का उत्साह बढ़ाने के लिए; परंतु पुत्र की अकर्मण्यता से खीझा हुआ पिता इससे जरा भी उत्साहित न हुआ उन्होंने। उपेक्षा-भाव से कहा—खुल चुका। जिसे शतरंज और सैर-सपाटे से फुरसत न मिले, उसे सभी द्वार बंद मिलेंगे।

जागेश्वरी यह सुनकर जैसे हँस पड़ी। उसे अपने विवाह की बात याद आयी। दयानाथ भी तो गुलछर्रे उड़ाते थे, लेकिन उसके आते ही उन्हे चार पैसे कमाने की फिक्र कैसी सिर पर सवार हो गयी थी। साल भर भी न बीतने पाया था कि नौकर

हो गये। बोली—बहू आ जायगी, तो उसकी भी आँखें खुलेंगी, देख लेना। अपनी बात याद करो। जब तक गले में जूआ नहीं पड़ा है, तभी तक यह कुलेलें हैं। जूआ पड़ा और सारा नशा हिरन हुआ। निकम्मो को राह पर लाने का इससे बढ़कर और कोई उपाय ही नहीं—पृ० ८। और इस बार भी दयानाथ परास्त हो गये। जागेश्वरी का अनुमान सत्य हुआ। टीके में एक हजार ही मिले। अनुभव और दूरदर्शिता से रहित दयानाथ यह रुपया पाकर इस तरह हौसले से भर जाते हैं कि उन्हें अपनी स्थिति का कुछ भी ध्यान नही रहता। कहाँ तो वे पहले कर्ज के नाम से चिढ़ते थे, कहाँ तीन हजार का सिर्फ गहना ही बनवा डाला। वे तो लगे हाथ एक हजार का चंद्रहार भी खरीद लेना चाहते हैं; परंतु व्यवहार-कुशल और दूरदर्शिणी जागेश्वरी उन्हे रोक देती है और समझाती है—नाम जोड़े-गहने से नहीं होता, दान-दक्षिणा से होता है।

एक बात और। 'गबन' की कथा के स्थूल रूप से दो भाग किये जा सकते हैं—(१) रमा का सपत्नीक गार्हस्थ्य जीवन और (२) उसका प्रवास-काल। प्रथम का नायक रमा है और द्वितीय की नायिका जालपा। पहले भाग में लेखक ने रमा के स्वभाव-आचरण की व्याख्या में जितनी एकाग्रता से काम लिया है, उतना ही भाग—बल्कि उससे भी कहीं ज्यादा—प्रवास-काल में जालपा के चरित्र-चित्रण के लिए सुरक्षित रक्खा है।

रमानाथ

नयी रोशनी का दिलदार युवक जिसे फैशन की चाह है, खाने-खिलाने, ओढ़ने-पहनने का शौक है आर्थिक स्थिति जिसकी अच्छी नहीं है जिसके फलस्वरूप बाहर की जरूरतें मित्रों के सहारे जो पूरी करता है, और घर में आशा से कही अधिक

सुंदरी पत्नी पाकर अपना भाग्य सराहता है, उसकी प्रसन्नता के लिए कोरी डींगें हाँक कर अपनी शान जमाये रखना चाहता है। यही रमा 'गवन' नामक उपन्यास का नायक है। स्वभाव की महत्वाकांक्षा, आडंबर से प्रेम, डींग हाँकना, झूठ बोलना और सबसे बढ़कर आधुनिक शिक्षा से प्रभावित होकर, फैशन अपनाने के कारण, कभी-कभी हमें वह 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर का छोटा भाई जान पड़ता है। दोनो के स्वभाव और चरित्र में जो अंतर है उसका प्रधान कारण दोनो की परिस्थिति अथवा पद का अंतर ही समझा जायगा। ज्ञानशंकर देहात के वातावरण में पला हुआ ऐसा युवक है जिसके मन में जमीदारी की ठसक बनी है और रमानाथ शहर के शिक्षित वातावरण में अपने दिन बितानेवाला कालेज का ऐसा छात्र है जिसने फैशन करना सीखा है, दिन-रात गप्पें लड़ाना और डींग हाँकना सीखा है और जो घर की आर्थिक परिस्थिति से परिचित होते हुए भी, उस संबंध में कभी दो मिनट न सोचने के कारण, अपरिचित है। कालेज के विद्यार्थियो के और भी कुछ चित्र प्रेमचंद जी ने खीचे है, पर शायद उनके उपन्यासो में रमानाथ से मिलता-जुलता दूसरा चित्र नही है। 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर से यद्यपि किसी सीमा तक, उक्त बातो में उसका चरित्र कुछ मिलता अवश्य है, पर हमारे युवको के लिए उपयोगिता की दृष्टि से 'गबन' के नायक का चरित्र अधिक मूल्यवान है। कारण, अधिकांश युवक उसी का अनुकरण किया करते हैं।

ग्रंथ के आरंभ मे ही लेखक ने रमानाथ के कार्य-कलाप, व्यवहार, रहन-सहन और वेश-भूषा आदि के संबंध में जो बातें लिखी हैं उनसे वर्तमान युग के शिक्षित विद्यार्थी का पूर्ण परिचय मिल जाता है। आधुनिक विद्यार्थियो से सभी परिचित हैं। अतः

प्रेमचंद जी द्वारा चित्रित युवक के चित्र से तुलना करके इस कथन की सत्यता का निर्णय वे सरलता से कर सकते हैं—

'इधर दो साल से वह बेकार था। शतरंज खेलता, सैर-सपाटे करता, माँ और छोटे भाइयों पर रोब जमाता। दोस्तों की बदौलत शौक पूरा होता रहता था। किसी का चेस्टर माँग लिया और शाम को हवा खाने निकल गये। किसी का पंप शू पहन लिया, किसी की घड़ी कलाई पर बाँध ली। कभी बनारसी फैशन में निकले, कभी लखनवी फैशन में। दस मित्रों ने एक-एक कपड़ा बनवा लिया तो दस सूट बदलने का साधन हो गया'—पृष्ठ ७।

यह चित्र हम नित्य देखते है—घरों में, बाजारों में, मेले-तमाशों में, सभी जगह ; बनावट का इसमें नाम नहीं है। कालेज के विद्यार्थी यदि ध्यान से देखें तो शायद धोखा खा जायँगे कि कहीं यह उन्हीं को लक्ष्य करके तो नही लिखा गया है। पर यह चित्र नहीं, उसकी व्याख्या है। हूबहू फोटो इन पंक्तियों में मिल जायगा—

रमानाथ टेनिस रेकेट लिये बाहर से आया। सफेद टेनिस-शर्ट पर सफेद पतलून, कैनविस का जूता। गोरे रंग और सुंदर मुखाकृति पर रईसों की शान पैदा कर दी।

प्रेमचंद जी ने इन पंक्तियों में एक और संकेत कर दिया है जो उपन्यास के कुछ पृष्ठ पढ़ने के बाद हमारी समझ में आता है। वह यह कि रमानाथ के पिता दयानाथ की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है। ५०) मासिक वे पैदा करते हैं। जगह आमदनी की अवश्य है, पर झूठ, चालाकी और रिश्वत से अपनी आमदनी बढ़ाना वे अनुचित समझते हैं। फल यह होता है कि ५०) में उनके घर का काम नही चलता और जब वे धूम-धाम से, अपनी नाक बचाने और बिरादरी को उँगली उठाने का मौका न देने के लिए

अपने पुत्र का विवाह करते है, तब उन्हे दो हजार का देना हो जाता है। पर रमानाथ को इन बातों—पिता घर का काम किस प्रकार चला रहे हैं, उन्हे क्या ऋण देना है, वह किस तरह चुकाया जायगा, पिता ऋण की चिंता में किस तरह घुल रहे हैं आदि—से कोई सरोकार नहीं। उसे यदि किसी बात से मतलब है तो अपने सैर-सपाटे से, ताश-शतरंज से या फैशन से। हमारे कालेज के विद्यार्थी हृदय पर हाथ रख कर सोचें, क्या वे घर की स्थिति देखकर फैशन करते हैं? हमारा अनुमान है कि मध्यम श्रेणी के अधिकांश विद्यार्थी इस संबंध में अपने को रमानाथ के साथ ही खड़ा पायेंगे।

यह सत्य है कि युवावस्था में सुख से खाने-पीने, सैर-सपाटे करने और निश्चिंत होकर मौज उड़ाने की इच्छा होती है; पर साथ ही यह भी तो सत्य है कि घर की स्थिति की ओर से आँखें मूँद कर और दूसरों से ऋण लेकर 'अपना खर्च बढ़ाना 'पिता पर एक और बोझ डालना' हमारे लिए अनुचित है, हानिकर है। युवक प्रायः युवावस्था के उन्माद में यह बात नही समझते, कभी-कभी सुझाने पर भी इस ओर ध्यान नही देना चाहते। भविष्य की उन्हें कोई चिंता नही रहती। रमानाथ भी युवक है। वह मनमाना उड़ाता है, सैर-सपाटे की चाट भी उसे लग गयी है और फैशन करना तो उसके लिए जीवन की 'आवश्यकता' ही है। स्त्री के सामने अपनी स्थिति के विषय में गप्पें हाँकने में वह कम नही है—मेरा इतना रुपया अमुक बैंक में जमा है, इतना धन किराये का आता है, इतना यहाँ है, इतना वहाँ, यह है, वह है। रमानाथ यही सब सुना कर अपनी रूपवती स्त्री को वश में करना चाहता है, उस पर धाक धमाना चाहता है और उसे विश्वास दिला देना चाहता है कि उसकी किसी भी आवश्यकता की पूर्ति, गहने-कपड़े और शृंगार के सामान की खरीदारी क्षणभर में,

केवल आँख के इशारे पर, की जा सकती है। भाग्य से कचहरी में उसे अच्छी ऊपरी आमदनी की जगह मिल जाती है। यहाँ भी अपनी शाहखर्ची के कारण तीन-चार महीनों में वह सौ से ज्यादा नहीं बचा पाता और इतने में छोटे से छोटा गहना भी नही बन सकता। जालपा उसकी इस उदासीनता से ऊब कर अपनी सखियों को पत्र लिखती है—मुझसे वादे तो रोज किये जाते हैं, रुपये जमा हो रहे हैं, सुनार ठीक किया जा रहा है, डिजाइन तय किया जा रहा है, पर यह सब धोखा है और कुछ नहीं। चोरी से चिट्ठियाँ पढ़कर रमा की आँखे खुलती है। साढ़े छः सौ उधार करके वह दो आभूषण लाता है। उन्हे पाकर जालपा के मनोल्लास को, यद्यपि कर्ज की चिंता के कारण यह मनोल्लास विशुद्ध नहीं है, सीमा नही रहती। आभूषण पाकर पत्नी के 'पति-स्नेह' में सेवा-भाव का उदय होता है और प्रियतमा के इस 'मधुर-स्नेह' के सामने रमा को वे दोनों गहने बहुत ही तुच्छ जँचते है। इसी प्रेमावेश में छह सौ का ऋण वह और कर लेता है। कुछ हो, रमा की झूठी बातों का और इस प्रकार बढ़ावा देने का फल यह हुआ कि स्वयं रमानाथ का हाथ तो खुला था ही, उसकी युवती पत्नी भी मनमाना धन लुटाने लगी। वह देहात में पली बाला अब अपने पति को धनी समझ कर शृङ्गार के मनमाने सामान की फरमाइश करने लगी, सैर-सपाटे को भी तैयार हो गयी, घर में भी साड़ी की आवश्यकता का अनुभव करने लगी और अंत में पार्टियो में जाने और धनी घरों की स्त्रियो को पार्टी देने का उसे चस्का लग गया। इन सब बातों का फल यह हुआ कि रमानाथ पर गहनेवालों का ही इतना रुपया चढ़ गया कि चुका न सकने के कारण एक दिन स्थिति खुल जाने और स्त्री तथा अन्य संबंधियो के सामने लज्जित होने के भय से वह घर छोड़कर भागने को विवश हो गया।

भविष्य की ओर से आँख बंद करके मनमाना खर्च करते रहने पर होनेवाले इसी भयंकर और अप्रिय परिणाम की ओर प्रेमचंद जी ने अपने इस उपन्यास में संकेत किया है। यह संकेत कल्पित नहीं है और हम प्रायः अपने जीवन में ऋण लेनेवालों को ऐसा ही कष्ट भोगते देखते हैं। यह दूसरी बात है कि उनमें से बहुत से लोग घर से भागने की आवश्यकता न समझें अथवा इसकी नौबत ही न आये ; पर इतना निश्चित है कि उन्हें भी रमानाथ की तरह कष्ट उठाना और समाज के सामने लज्जित होना पड़ता है। रमानाथ इतना सस्ता नहीं छूट जाता। घर से भागने पर वह पुलिस के हाथ में पड़ जाता है। वहाँ झूठ बुलवाने के लिए उसे तरह-तरह की धमकियाँ और प्रलोभन दिये जाते हैं। पुलिस के हाथ की कठपुतली बन कर जब वह अनेक निर-पराध व्यक्तियों के विरुद्ध गवाही देने पर विवश किया जाता है, तब उसकी बड़ी निंदा होती है। अंत में, प्रेमचंद जी उपन्यास का कथानक सम्हालने के लिए उसकी स्त्री की विशालहृदयता और महत्ता दिखाकर उसी के द्वारा रमा का उद्धार करवा देते हैं।

'गबन' ही नहीं, प्रेमचंद जी के अन्य उपन्यास पढ़ने पर भी ज्ञात होता है कि नवयुवक पात्रों के चरित्रों का चित्रण करते समय वे सदैव विशेष सावधान रहे हैं। रमानाथ के विषय में भी यही कहा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर रमानाथ का बार-बार मूर्खता दिखाते जाना कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है। परंतु इसका उद्देश्य बड़ा पुनीत है। युवकों में जो दोष आ जाते हैं प्रायः उनका कारण सांसारिक अनुभवों का अभाव होता है। जो व्यक्ति सांसारिक बातों से परिचित हैं, उनका यह कर्त्तव्य है कि अपने देश के नवयुवकों को उनके मार्ग में आनेवाली बाधाओं और कठिनाइयों से समयानुसार सचेत करते रहें।

'गबन में रमानाथ के चरित्र का चित्रण करके प्रेमचंदजी ने यही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

रमानाथ के चरित्र के संबंध में ऊपर जो कुछ विवेचना की गयी है उससे यह न समझ लेना चाहिए कि लेखक ने उसमें दोष ही दोष दिखाये हैं। 'पति कीदृष्टि से वह आदर्श है और जालपा अगर माँगती तो प्राण तक उसके चरणों में रख देता, रुपए की हकीकत ही क्या थी'—पृ० ७३। और सब तरह से असंतुष्ट रहनेवाली उसकी स्त्री भी स्पष्ट रूप से कह देती है कि ऐसे पति को पाकर मैं अपने को बहुत भाग्यवती समझती हूँ। सहृदय और रसिक होने के साथ-साथ वह निस्वार्थी भी है।

मातृ-भक्ति का उदय भी उसमे होता है। मध्यम वर्ग की स्त्री होने के नाते गृहस्थी की चिताग्नि मे माता ने किस प्रकार अपनी प्रिय लालसाओं को एक एक करके होम कर दिया है. इससे वह अपरिचित नहीं और इसीलिए अपनी त्यागमूर्ति माता को जिसमें चिरसंचित अलंकार-प्रियता को दबा लेने की दृढ़ता नही है और आवेश में कंगन उठाकर जो हाथों में पहन लेती है—यद्यपि इससे प्रकट होने वाला ओछापन उसे स्वयं ही खटकता है—रमानाथ आदर्श पुत्र की तरह अपने सिर पर भारी बोझ करके भी कंगन भेंट करना कर्त्तव्य समझता है।

सारांश यह कि रमा औसत दर्जे का युवक है जिसमें उन्नति करने की किसी प्रकार की धुन, कोई चाह, जीवन का कोई आदर्श नहीं है'। पिता जब तक पढ़ाते रहे, पढ़ लिया। पिता ने जिस दिन जवाब दे दिया कि मेरी समाई नहीं है, अपने पुरुषार्थ से पढ़ना हो तो पढ़ो ; उसी दिन कालेज में दो महीने से लिखा नाम कटा कर पढ़ना छोड़ बैठा और दो साल तक बिल्कुल बेकार रहा। अनेक शिक्षित युवक अपनी स्थिति को अधिक अच्छी

दिखाने के फेर में पड़कर डींग हाँका करते हैं। रमा भी इसी वर्ग का है। प्रथम परिचय में ही उसने नवविवाहिता पत्नी से बढ़ा-चढ़ाकर बातें कही हैं। इसी तरह कोई ऐसा मित्र न था जिससे उसने लंबी-चौड़ी बातें न की हो। यह उसकी आदत थी। घर की असली दशा को 'वह सदैव बदनामी की तरह छिपाता रहा'—पृ० ३१। रमेश बाबू से भी उसने अपनी स्थिति छिपा रखी है, तभी तो वह कहते है—'दस-बीस हजार तुम्हारे पिता के पास होंगे तो अभी दो-दो बच्चे भी उनके सामने हैं'—पृ० ३६।

चरित्र की इन्हीं दुर्बलताओं के कारण रमा जीवन भर पछताता है और अंत में उसका उद्धार करती है पत्नी जालपा—पुरुष की प्रेरक शक्ति, उसकी प्रकृति। नारी जाति के प्रति कितने सम्मान का यह संकेत है!

कला की दृष्टि से देखने पर हमें उसका चरित्र-चित्रण सफल मालूम होता है। दोषी वह चाहे जितना है, पर परिस्थितियो के कारण विवश हो गया है। वह झूठ बोलता है, चोरी करता है, संबंधियों को रोते छोड़ कायर की तरह भाग खड़ा है, फिर भी हम उससे घृणा नहीं करते। कभी-कभी हम उसकी मूर्खता पर झुँझला अवश्य उठते है, पर हमारी सहानुभूति उसी के साथ रहती है। युवक होने के कारण उसे यह ज्ञात नहीं होता कि (जालपा के शब्दों में) 'लालसा की तृप्ति नहीं होती', पर यह अनभिज्ञता ही उसके चरित्र-चित्रण को सफल और स्वाभाविक बनाती है।

जालपा

बिल्लौर का झूठा चमकदार हार पाकर 'बड़ी बड़ी आँखों वाली' प्रसन्न और उछलती-कूदती जिस बालिका को हम स्नेहभरी आँखों से देखते हैं, पिता जिसके लिए सदैव खिलौने और गुड़ियाँ

न लाकर आभूषण लाते और इस प्रकार, परोक्ष रूप से, जिसके मन में भारतीय स्त्रियो के स्वाभाविक आभूषण-प्रेम को उत्तेजित करते रहे, माता का नया चंद्रहार देख ससुराल से उसके आने का आश्वासन पाकर, जिसे संतोष करना पड़ता है, उस सरलहृदया से हमारा प्रथम परिचय लेखक ने उस 'शुभ' दिन कराया है जब उसकी 'चिरसचित अभिलाषा पूरी होने' की आशा-लता पर तुषारपात होता है। चढ़ावे में चंद्रहार न पाकर 'उसके कलेजे पर चोट-सी लगती है'। मालूम होता है, 'देह में रक्त की एक बूँद भी नहीं है'। चंद्रहार उसके लिए 'देह की एक आँख' है जिसके न होने से शरीर के सब अंग व्यर्थ जान पड़ते हैं।

आभूषण-मंडित संसार में पत्नी जालपा का आभूषण-प्रेम स्वाभाविक सिद्ध करने के पश्चात् लेखक उसके सामने वह दुखद अवसर लाता है जब उसके सारे गहने चोरी चले जाते हैं। ससुराल उसकी निर्धन है, पर पति मिला है मन का धनी। उत्साही और रसिक युवा पति से जालपा को कोरे वादे मिले। अब तक जालपा ने अपने सारे गहने इसीलिए न पहने थे कि वह चन्द्रहार चाहती थी। कुछ तो परिस्थिति की विवशता से और कुछ अपनी मूर्खता से, उसके पति को महाजन का ऋण चुकाने के लिए स्वयं अपनी पत्नी के गहनों का चोर बनना पड़ा। आभूषणों पर जान देनेवाली जालपा के लिए अब दिन-रात का रोना हाथ रहा। पति ने उसे धैर्य अवश्य दिया ; पर वह मौखिक सहानुभूति थी। अंत में, एक दिन रमा अपनी प्रिय पत्नी का दुख दूर करने के लिए उधार गहने ले आया। जालपा उन्हे देखकर फूली न समायी, यद्यपि उसे यह मालूम था कि ये गहने उधार आये हैं। इस उपन्यास की युवती नायिका के चरित्र का अवस्थाजनित दोष कह सकते हैं।

आठ सौ कर्ज कराने के पश्चात् जालपा के 'पति-स्नेह में

सेवा-भाव का उदय हुआ'। अब वह पति को सुखी और प्रसन्न देखने के लिए विशेष उत्सुक है; खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की सभी सुविधाएँ अब उसने पति के लिए सुलभ कर दी हैं। परंतु अलंकार-लिप्सा उसकी अभी संतुष्ट नहीं है। पति पर लंबा ऋण देखकर भी वह दो आभूषण और ले लेती है। नयी जवानी है, नया जोश है, 'रूप-लावण्य है और शील-विनय भी'। खेलने-खाने के ये ही दिन हैं, इस विचार ने उद्दीपन का काम किया। संग-साथ बढ़ने लगा। 'जालपा का कंठ-स्वर इतना कोमल, भाषण इतना मधुर, छवि इतनी अनुपम है कि अपनी मंडली में वह रानी-सी जान पड़ती। उसके आने से मुहल्ले के नारी-जीवन में जान-सी पड़ गयी'—पृ० ७३। उस पर उदारहृदय इतनी कि मंडली के पान-पत्ते, सेवा-सत्कार, किराया-भाड़ा और जलपान का खर्च उसी के मत्थे होता'—पृ० ७३। आफिस में रमा खूब खर्च करता और घर पर जालपा। 'दोऊ हाथ उलीचिए' का क्रम तीव्र गति से आरंभ हो गया।

तात्पर्य यह कि सैर-सपाटा, खेल-तमाशा, नाच-रंग, सिनेमा-थियेटर-जैसे लौकिक सुख और विलास की सभी सुविधाएँ अब जालपा को सुलभ हैं। रमा आदर्श पति की तरह उसे प्रत्येक बात का सहारा और बढ़ावा दे रहा है। दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़े मुग्ध दृष्टि से अपने प्रिय सहचर की ओर ताकते हुए अथाह जल में बढ़ते जाते हैं। रमा इस समय भयभीत है। ऋण के भय से, तकाजों के डर से, रतन के रुपए न देने पर अपमानित होने की आशंका से और सरकारी रकम अदा न करने पर जेल जाने की भयंकर कल्पना से वह बार-बार सिहर उठता है। मुख उसका विवर्ण हो रहा है, हँसी म्लान है, आँखें उसकी कुछ सोचने के लिए दिन में मुँदी और रात में खुली रहती हैं। परंतु जालपा की मादकताभरी विलासी वृत्ति क्षण भर से अधिक उसे

सचेत नहीं होने देती। दो-एक बार उसने दबी जबान से यह जानने की इच्छा अवश्य की—तुम गुमसुम से क्यों हो ? कौन सी चिंता तुम्हे सता रही है। मुझसे अपनी बात, अपना भेद क्यों छिपा रहे हो ? पर जालपा के इन प्रश्नों में पति के सुख-दुख की समभागिनी बनने की सदिच्छा इतनी प्रबल नही है जितनी यह बात जानने की अभिलाषा कि तुम मुझे कितना चाहते हो, कितना प्रेम करते हो, करते भी हो या नहीं ? जालपा और रमा दोनों की विवेक-बुद्धि पर युवावस्था के मद का परदा पड़ा है। अदूरदर्शियों की भाँति अतीत और भविष्य, दोनों की ओर से उन्होंने आँखें मूँद ली है और चौंकते वे उस समय हैं जब पानी नाक तक पहुँच जाता है ; उबरने का उपाय समझ में नहीं आता और पैर उखड़ जाते है। घबड़ाकर जालपा पति के और अपने बचाव के लिए उससे लिपट जाना चाहती है ; परन्तु रमा स्वयं संकोच और भय से पत्नी का हाथ झिड़क, आँख बचा, मुँह छिपा, गोता मार कर दूर निकल जाता है।

रमा के घर से भागने पर जालपा सचेत होती है ; उसकी कर्मबुद्धि जाग्रत होती है। दफ्तर में पति के नाम निकलनेवाला हिसाब जमा करने के लिए अपना हार बेंच कर उसने तुरंतबुद्धि का परिचय दिया। सराफों के तकाजो से ऊब कर कोचनेवाले ससुर दयानाथ के हाथ में रुपए देने के लिए रतन के हाथ, अपना सर ऊँचा रखकर—अपनी दयनीय स्थिति की कहानी उसे न बताकर उल्टा, अहसान जता कर—कंगन बेचना और पिता दीनदयाल के साथ मायके न जाकर, उनकी किसी भी सहायता को सविनय अस्वीकार कर देना, जालपा के उस आत्माभिमान का सुन्दर परिचय देनेवाली दो बातें हैं जिससे बहुत पहले ही माता का भेजा हुआ चंद्रहार लौटवाकर लेखक हमें परिचित करा

चुका है। रमा को पाने के पहले उसे केवल गहनों की चाह थी। रमा को पाकर वह निहाल हो गयी ; परम सुख-संतोष का उसने अनुभव किया। उसकी तीन सहेलियाँ हैं और पति के नाते तीनों दुखी हैं। परन्तु जालपा को पति रमानाथ से सब कुछ मिला और आशा से अधिक। सुख की इस अधिकता ने उसे भुलावा दिया, युवावस्था की दुर्बलता ने मोहित करके उसे विलासिता में फँसा लिया, और रमा को साथ लिये सारे समाज में वह अपनी प्रसन्नता लुटाती फिरी। परंतु आज उसी को खोकर वह मोह से जागती है ; विलासिता के बंधन से मुक्त होने को प्रस्तुत होती है। फैशन और विलास की उन सभी चीजों—मखमली स्लीपर, रेशमी मोजे, तरह-तरह की बेलें, फीते, पिन, कंघियाँ, आइने आदि—का संग्रह करके वह एक दिन नदी में प्रवाहित कर देती है जो उसके सर्वनाश का—प्राणप्रिय पति को उससे विलग करने का—मूल कारण थी। भौतिक सुख-लिप्सा की तुच्छ परंतु लुभावनी भावना पर इस महत्त्वपूर्ण विजय के पश्चात् जालपा के नये जीवन का सूत्रपात होता है। सेवा, त्याग, करुणा, सहानुभूति आदि पवित्र भावनाओं का उसके हृदय में वेग से संचार होता है और वह कर्म-पथ पर आगे बढ़ने को प्रस्तुत होती है।

दुर्भाग्य से जालपा का पति पुलिस के हाथ में पड़ जाता है और झूठी गवाही देने पर मजबूर किया जाता है। रमानाथ यह काम इस लालच से स्वीकारता है कि उसे कोई ऊँचा पद मिल जायगा और जालपा के साथ वह सुख से जीवन बिता सकेगा। पता लगने पर जालपा उसके इस काम से घृणा करती है। पति को एक पत्र में उसने स्पष्ट लिख दिया—मुझे धन की परवाह नहीं है ; मैं तुम्हें चाहती हूँ। ईमानदारी से यदि तुम चने भी कमा लाओगे तो सुख से रहूँगी ; पर बेगुनाहों के खून से तर माल

खाना मुझे मंजूर नहीं। मैं झोपड़े में रह सकती हूँ ; पर बेईमानी से कमाए हुए महल में नहीं। जिस दिन तुम ऐसे पाप करोगे, मैं प्राण दे दूँगी।

ये शब्द तो प्रेमचंद जी के नहीं हैं ; पर भाव उन्ही का है। यही इस भारतीय नारी के विचार हैं जो अपने पति को 'किसी भी' तरह से धन लाने के लिए राजी न करके इसलिए मजबूर करती है कि रूखा-सूखा कुछ भी लाओ, पर लाना चाहिए ईमानदारी से ही ; टूटे-फूटे झोपड़े में रहो, पर निर्धनों को सताकर महलों मे रहना उचित नहीं। निर्धन पति को तलाकने का विचार मन में न लाकर वह सोचती है कि किसी तरह निर्धनता में भी इनके सामने प्रसन्न रहूँ जिससे ये मेरे दुख से दुखी न हों। पति के पापों के लिए वह उसे फटकारती नही, स्वयं उनका प्रायश्चित्त करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत होती है।

रमानाथ की झूठी गवाही से जो घर बरबाद हुए, जालपा की हार्दिक सहानुभूति उन सभी के साथ है और दिनेश के घर जाकर तो वह दिन भर बच्चों की सेवा करती है, घर भर में झाड़ू देती है, पानी भरती है, बर्तन माँजती है चंदा इकट्ठा करती है। पति के पापों का प्रायश्चित करनेवाली यह भारतीय नारी पाठक की दृष्टि में इस समय कितना ऊपर उठ जाती है ! सम्मिलित परिवार में एक के कामों का भला-बुरा परिणाम दूसरों को भुगतना पड़ता है, फिर रमा और जालपा तो पति-पत्नी हैं; अभिन्न हैं। रमा ने जो अपराध किया उसके मूल में जालपा की आभूषण-लिप्सा थी, वह पति को अंधा बनाकर पतन के गर्त में गिरने के लिए अनजान की तरह उत्साहित करती रही। आज यह हिंदू नारी उन पूर्व पापों का प्रायश्चित करती है जिनके कारण भ्रम में पड़े पति ने ऊँचा पद पाकर पत्नी को सुखी देखने के

लोभ में, निरपराधों को दंड दिलाने के लिए, पुलिस के इशारे पर झूठा बयान दिया। आज सचेत होकर जालपा ने दिनेश के घरवालों की सेवा करके जिस सहनशीलता का परिचय दिया है उसकी महत्ता का अनुमान केवल इसी से किया जा सकता है कि वेश्या जोहरा तक उसके संपर्क में आने पर अत्यंत प्रभावित होकर क्षमा, त्याग और प्रेम की मूर्ति बनकर लौटती है।

सेवा-सहानुभूति का जो आदर्श जालपा ने उपस्थित किया है वह दैवी नही, मानवीय है और इसीलिए यह नारी देवी नहीं, मानवी ही है। अनेक गुणों के साथ उसमें दोष भी है। 'ऊपर से फूल होने पर भी वह भीतर से पत्थर है'; इतनी नाजुक होकर भी वह कितनी मजबूत है! जिस जोहरा ने जालपा के संबंध में ये विचार प्रकट किये हैं, उसी से उस नारी ने अपनी निर्बलता की कहानी भी कही है—बहन, मैं खुद मर जाऊँगी, पर उनका अनिष्ट मुझसे न होगा। न्याय पर उन्हे भेंट नही कर सकती। अपनी इस 'दुर्बलता' को निभाकर ही नारी-समाज में जालपा प्रतिष्ठित पद की अधिकारिणी हो सकी है।

देवीदीन

सरल, निष्कपट और परोपकारी प्राणी। जाति का खटिक, शाक-भाजी का दूकानदार, बद्रीनाथ की यात्रा से धर्म और भक्ति परिचय देता है। हृदय का यह दयालु है, प्रेमी है। सभ्यता के नाम पर मौखिक सहानुभूति के थोथे शिष्टाचार का पाठ उसने अपने बचपन में नहीं सीखा। इसलिए उसका दया-धर्म का व्यवहार केवल दिखाने का नही है। किसी भी विपद्ग्रस्त राही की सहायता को वह प्रस्तुत है। बिना जान-पहचान के ही रमा का रेल-भाड़ा वह देता है। सरल-हृदय होने के साथ ही वह इतना हँसोड़ और प्रसन्नचित्त है कि सभी आश्चर्य करते हैं। दुनियाँ

देखने-सुनने का उसे काफी मौका मिल चुका है। लगभग पचीस वर्ष की अवस्था में वह घर से भाग कर हवड़ा गया था। तब से अपने हाथ-पैर से काम करता है और इस समय पंद्रह-बीस हजार का आदमी है। दिनचर्या इसकी विचित्र है। दिन भर चिलम पीना और गप्पें लड़ाना। थोड़ी हिंदी जानता है; बैठा-बैठा रामायण, तोता-मैना का किस्सा, रासलीला या माता मरियम की कहानी पढ़ा करता है। रमा से परिचय होने पर बुड्ढे को अँग्रेजी पढ़ने का शौक हुआ। सबेरे ही प्राइमर लेकर बैठ जाता और नौ-दस बजे तक पढ़ता रहता। बीच-बीच में लतीफे भी होते, वह कहता—"पराइमर' का मतलब है—पराई स्त्री मर जाय। मैं कहता हूँ, हमारी मर। पराई के मरने से हमें क्या सुख"—पृ० १६७।

देवीदीन राष्ट्रीयता के रंग में रँगा सच्चा भारतीय है। स्वतंत्रता की युद्धाग्नि में दो जवान बेटों की आहुति देने के पश्चात् 'छाती के गज भर चौड़ी हो जाने' का अनुभव वह कर चुका है। सुदेशी का इतना भक्त है कि राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभ से विदेशी दियासलाई तक घर में नहीं लाया। देशी वस्त्रों में ज्यादा पैसा लगाना उसे स्वीकार है, पर विदेशी कपड़े सस्ते खरीद कर देश का पैसा बाहर भेजना उसे किसी तरह सहन नहीं। स्थिति का ज्ञान इसको काफी है और वह जानता है कि बड़े के लिए देश का उद्धार नहीं हो सकता; क्योंकि गरीबों के लिए उनके दिल में जगह नहीं होती। सेठ करोड़ीमल-जैसे पूँजीपतियों की दोहरी चालों से वह अपरचित नहीं है; उनकी नस-नस पहचानता है। 'वह शेखीबाजों में नहीं है। मुँह से जो कहता है उसे पूरा कर दिखाने की सामर्थ्य रखता है'–१७१। रमा को छुड़ाने के लिए पचास अशर्फियाँ झपट कर ला देता है और दारोगा को वादाखिलाफी करते देख बुरी तरह फटकारता है। सारांश यह कि नीची समझी जानेवाली जाति के इस व्यक्ति में

सभ्य समाज के वे अनेक सद्‌गुण पाये जाते है, जिनके कारण व्यक्ति बड़ा या महान् समझा जाता है। उसका यह वक्तव्य संभवत. हमारे स्वदेश-सेवक सुधारको की ऑख खोलने में समर्थ होगा—

जिस देश में रहते हैं, जिसका अन्न जल खाते हैं; उसके लिए इतना भी न करें तो जीने को धिक्कार है दो जवान बेटे इसी सुदेशी की भेट कर चुका हूॅ। भैया, ऐसे-ऐसे पट्ठे थे कि तुमसे क्या कहे ! दोनो विदेशी कपड़े की दूकान पर तैनात थे। क्या मजाल थी कि कोई गाहक दूकान पर आ जाय। हाथ जोड़कर, घिघियाकर, धमकाकर, लजवाकर सबको फेर देते थे। बजाजे में सियार लौटने लगे। सबो ने जाकर कमिश्नर से फरियाद की। सुनकर आग हो गया। बीस फौजी गोरे भेजे कि अभी जाकर बाजार से पहरे उठा दो। गोरों ने दोनों भाइयो से कहा—यहॉ से जाव, मुदा वह अपनी जगह से जौ भर न हिले।

भीड़ लग गई। गोरे उन पर घोड़े चढ़ा लाते थे, पर दोनों चट्टान की तरह डटे खड़े थे। आखिर जब इस तरह कुछ बस न चला तो सबो ने डंडो से पीटना शुरू किया। दोनो वीर डंडे खाते थे; पर जगह से न हिलते थे। जब बड़ा भाई गिर पड़ा तो छोटा उसकी जगह खड़ा हुआ। अगर डंडे सँभाल लेते तो भैया, उन बीसों को मार भगाते; लेकिन हाथ उठाना तो बड़ी बात है, सिर तक न उठाया। अन्त में छोटा भी वहीं गिर पड़ा। दोनों को लोगों ने उठाकर अस्पताल भेजा। उसी रात को दोनों सिधार गए। तुम्हारे चरन छूकर कहता हूँ, भैया, उस बखत ऐसा जान पड़ता था कि मेरी छाती गज भर की हो गई है, पाँव जमीन पर न पड़ते थे। यही उमंग आती थी कि भगवान ने औरो को पहले न उठा लिया होता तो इस समय उन्हे भी भेज [illegible]। जब

अर्थी चली तो एक लाख आदमी साथ थे। बेटों को गंगाजी को सौंप कर मैं सीधे बजाजे पहुँचा और उसी जगह खड़ा हुआ, जहाँ दोनों वीरों की लहास गिरी थी। ग्राहक के नाम चिड़िए का पूत तक न दिखायी दिया। आठ दिन वहाँ से टला तक नहीं। बस, भोर के समय आध घंटे के लिए घर आता था और नहा-धोकर कुछ जलपान करके चला जाता था। नवें दिन दूकान-दारों ने कसम खायी कि विलायती कपड़े अब न मँगाएँगे। तब पहरे उठा लिये गये। तबसे विदेशी दियासलाई तक घर में नहीं लाया—पृ० १७६।

—:०:—

कथोपकथन

प्रत्येक व्यक्ति की बातचीत पर सबसे अधिक प्रभाव उसकी प्रकृति का पड़ता है। इसके पश्चात् उसकी रुचि, विषय और मानसिक स्थिति का नम्बर आता है। जो लेखक पात्र के मुख से शब्द निकलवाने के पूर्व एक बार सोच लेगा कि अमुक प्रकृति का व्यक्ति ऐसी स्थिति में इस प्रकार के वाक्य कहेगा या नहीं, उसी के कथोपकथन सफल और प्रभावोत्पादक होंगे। इस प्रकार उपयुक्तता अथवा स्वाभाविकता कथोपकथन की प्रधान कसौटी है जिस पर देश, काल और मानसिक स्थिति का पूर्ण प्रभाव पड़ता है जिससे पात्र की 'टोन' बदल जाती है। अपने उपन्यासों में पात्रों की बातचीत कराते समय प्रेमचंद जी ने इसका आवश्यक ध्यान रखा है और इसका प्रमाण यह है कि एक ही पात्र भिन्न स्थिति में भिन्न स्वर से बात करता है। यह स्वर-परिवर्तन लेखक की सतर्कता का द्योतक है। शतरंज में जीतते समय रमेश बाबू जिस उत्साह से बात करते हैं, चौथी बाजी हारते ही वह गायब हो जाता है और पाँचवीं बाजी बिना खेले ही सो जाने का आग्रह वे करने लगते हैं। जो रमा नौकरी दिलाने के लिए रमेश बाबू से बहुत आग्रह कर रहा था, वही जगाये जाने पर कच्ची नींद की खुमारी में कहता है—नाहक जगा दिया। कैसे मजे की नींद आ रही थी !

अजी, वह अर्जी देना है कि नहीं तुमको ?

आप दे दीजिएगा।

और जो कहीं साहब ने बुलाया तो मैं ही चला जाऊँगा ?

ऊँह ; जो चाहे कीजिएगा। मैं सोता हूँ—पृ० ३६।

इसी प्रकार की बातचीत का दूसरा उदाहरण 'गोदान' में अपराधी पति को आड़े हाथों लेती हुई धनिया की इस बातचीत में मिलता है—

धनिया पति को फटकारने लगी। ऐसे सुअवसर उसे बहुत कम मिलते थे। होरी उससे चतुर था ; पर आज बाजी धनिया के हाथ थी। हाथ मटका कर बोली—क्यों न हो, भाई ने पंद्रह रुपया कह दिये, तो तुम कैसे टोकते ! अरे राम-राम ! लाड़ले भाई का दिल छोटा हो जाता कि नहीं ; फिर जब इतना बड़ा अनर्थ हो रहा था कि लाड़ली बहू के गले पर छुरी चल रही थी, तो भला तुम कैसे बोलते ! उस बखत कोई तुम्हारा सरबस लूट लेता, तो भी तुम्हें सुध न होती।

होरी चुपचाप सुनता रहा ! मिनका तक नहीं। झुँझलापट हुई, क्रोध आया, खून खौला, आँख जली, दाँत पीसे ; लेकिन बोला नहीं। चुपके-से कुदाल उठायी और ऊख गोड़ने चला।

धनिया ने कुदाल छीन कर कहा—क्या अभी सबेरा है जो ऊख गोड़ने चले ? सूरज देवता माथे पर आ गये। नहाने-धोने जाओ; रोटी तैयार है।

होरी ने घुन्ना कर कहा—मुझे भूख नहीं है।

धनिया ने जले पर नोन छिड़का—हाँ, काहे को भूख लगेगी, भाई ने बड़े-बड़े लड्डू खिला दिये हैं न ! भगवान ऐसे सपूत भाई सबको दें।

होरी बिगड़ा। क्रोध अब रस्सियाँ तुड़ा रहा थ—तू आज मार खाने पर लगी हुई है।

धनिया ने नकली विनय का नाट्य करते हुए कहा—क्या करूँ, तुम दुलार ही इतना करते हो कि मेरा सिर फिर गया है।

तू घर में रहने देगी की नहीं ?

घर तुम्हारा, मालिक तुम; मैं भला कौन होती हूँ तुम्हें घर से निकालने वाली ?

होरी आज धनिया से किसी तरह पेश नहीं पा सकता। उसकी अक्ल जैसे कुन्द हो गयी है। इन व्यंग्य-बाणों को रोकने के लिए उसके पास कोई ढाल नहीं है। धीरे से कुदाल रख दी और गमछा लेकर नहाने चला गया—पृ० ४३।

इस कथोपकथन से धनिया की वाक्पटुता का पता लगता है। होरी इस समय उससे हार रहा है, किसी बात का उत्तर उसे नहीं सूझता, क्योंकि कुछ ही देर पहले दमड़ी बँसोह के सामने उसने बुरी हार खायी है।

कथोपकथन का साहित्यिक मूल्य यह है कि उससे पात्रों के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः चरित्र की अच्छी या बुरी बात की विवेचना के लिए जहाँ कई पंक्तियाँ चाहिएँ और फिर भी बात स्पष्ट न हो, वहाँ बातचीत कराते समय साधारण शब्द से काम निकाला जा सकता है। इसीलिए ऐसे ही स्थल कथोपकथन की दृष्टि से सफल समझे जाते हैं जिनसे चरित्र के विश्लेषण में सहायता मिल सके। ऐसा तभी होता है जब विस्तार के प्रलोभन में न पड़कर, व्यर्थ की बातचीत में पाठक को न फँसा कर लेखक सतर्कता से काम ले। नीचे का कथोपकथन जीवन के एकांकीपन से ऊबी परोपकारिणी जोहरा, बाल-बच्चों के मोह में फँसे कायर रमानाथ और पति का कल्याण भर चाहनेवाली स्वार्थिनी जालपा की मनोवृत्तियाँ बड़ी खूबी से दिखलाता है—

जोहरा—(पानी में डूबती लाश को बचाने) मैं जाती हूँ।

रमा—जाने को तो मै तैयार हूँ; लेकिन वहाँ तक पहुँच भी सकूँगा, इसमें सन्देह है। कितना तोड़ है!

जोहरा—नहीं, मै अभी निकाले लाती हूँ।

रमा—(सशंक होकर) क्यों नाहक जान देने जाती हो! वहीं शायद एक गड्ढा है। मैं तो जा रहा था।

जोहरा—नहीं, नही, तुम्हें मेरी कसम; तुम न आना। मैं अभी लिये आती हूँ। मुझे तैरना आता है।

जालपा—लाश होगी और क्या?

रमा—शायद अभी जान हो।

जालपा—अच्छा! जोहरा तैर भी लेती है! जभी हिम्मत हुई।

रमा—हाँ, कुछ जानती तो है। ईश्वर करे, लौट आवे, मुझे अपनी कायरता पर लज्जा आ रही है।

जालपा—इससें लज्जा की कौन सी बात है? मरी लाश के लिए जान को जोखिम में डालने से क्या फायदा? जीती होती तो मैं खुद ही तुमसे कहती, जाकर लाओ।

रमा—यहाँ से कौन जान सकता है कि जान है या नही? सचमुच बाल-बच्चोंवाला आदमी नामर्द हो जाता है। मैं खड़ा रहा और जोहरा चली गयी।

प्रेमचंद जी के 'निर्मला' उपन्यास में इसी प्रकार का एक और उदाहरण है जिसमें क्रोधित पति-पत्नी की बातचीत है। कन्या के विवाह में खर्च के संबंध में सलाह करते-करते बात कहाँ से कहाँ पहुँच जाती है; देखिए—

उदयभानु—तो क्या मैं तुम्हारा गुलाम हूँ?

कल्याणी—तो क्या मैं तुम्हारी लौंडी हूँ?

उदयभानु—ऐसे मर्द और होंगे जो औरतों के इशारे पर नाचते हैं।

कल्याणी—तो ऐसी स्त्रियाँ भी और होंगी जो मर्दों क जूतियाँ सहा करती हैं।

उदयभानु—मैं कमा कर लाता हूँ, जैसे चाहूँ खर्च कर सकता हूँ। किसी को बोलने का अधिकार नहीं है।

कल्याणी—घर में जितना तुम्हारा अधिकार है, उतना ही मेरा भी। उससे जौ भर भी कम नहीं। अगर तुम अपने मन के राजा हो तो मैं भी अपने मन की रानी हूँ। तुम्हारा घर मुबारक रहे, मेरे लिए पेट की रोटियों की कमी नहीं है।

उदयभानु —क्या तुम समझती हो कि तुम न सँभालोगी तो मेरा घर ही न सँभलेगा? मै अकेले ऐसे-ऐसे दस घर सँभाल सकता हूँ।

कल्याणी—कौन? अगर आज के महीनवे दिन मिट्टी में न मिल जाय तो कहना कोई कहती थी।

यह कहते-कहते कल्याणी का चेहरा तमतमा उठा। वह झमक कर उठी और द्वार की ओर चली। वकील साहब ने चलते-चलाते एक और चरका दिया—मैके का घमंड होगा।

कल्याणी—मैकेवाले मेरी तकदीर के साथी नहीं है और न मैं इतनी नीच हूँ कि उनकी रोटियों पर जा पड़ूँ।

उदयभानु—तब कहाँ जा रही हो?

कल्याणी—तुम यह पूछनेवाले कौन होते हो? ईश्वर की सृष्टि में असंख्य प्राणियो क लिए जगह है, क्या मेरे ही लिए न होगी?

इस कथोपकथन से कल्याणी के स्वभाव और संस्कार पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। वकील साहब तो आवेश में हैं; क्या कह रहे हैं, इसका उन्हे कुछ पता नहीं है; परंतु कल्याणी की बातें अनुभव से पूर्ण और दूरदर्शिता से युक्त हैं तथा इनसे उसके स्वाभिमान का भी परिचय मिलता है।

'गोदान' में भी इसी प्रकार का एक उदाहरण यहाँ उद्धृत है

जिसमें बात आरंभ तो होती है सरस विनोद से, परंतु उसे समाप्त करते-करते दोनो पक्ष निराशा की ठंढी साँस लेकर उठते है—

धनिया ने परास्त होकर होरी की लाठी मिरजई, पगड़ी, जूता और तमाखू का बटुआ लाकर सामने पटक दिये।

होरी ने उसकी ओर आँखें तरेर कर कहा—क्या ससुराल जाना है जो पाँचो पोसाक लायी है? ससुराल मे भी तो कोई जवान साली-सलहज नही बैठी है जिसे जाकर दिखाऊँ।

होरी के गहरे, साँवले, पिचके हुए चेहरे पर मुस्कराहट की मृदुलता झलक पड़ी। घनिया ने लजाते हुए कहा—ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जायँगी।

होरी ने फटी हुई मिरजई बडी सावधानी से तह करके खाट पर रखते हुए कहा—तो क्या तू समझती है, मै बूढ़ा हो गया? अभी तो चालीस भी नहीं हुए। मर्द साठे पर पाठे होते है।

जाकर सीसे में मुँह देखो। तुम जैसे मर्द साठे पर पाठे नहीं होते। दूध-घी अंजन लगाने तक को मिलता नही। पाठे होगे! तुम्हारी दशा देखकर तो मैं और भी सूखी जाती हूँ कि भगवान यह बुढ़ापा कैसे कटेगा? किसके द्वार पर भीख माँगेंगे।

होरी की वह क्षणिक मृदुता यथार्थ की इस आँच में जैसे झुलस गयी। लकड़ी सँभालता हुआ बोला—साठे तक पहुँचने की नौबत न आने पायगी धनिया। इसके पहले ही चल देंगे।

धनिया ने तिरस्कार किया—अच्छा रहने दो, मत अशुभ मुँह निकालो। तुमसे कोई अच्छी बात भी कहे तो लगते हो कोसने—पृ० ४।

इस उदाहरण से पता चलता है कि होरी और धनिया के पारिवारिक जीवन में कितनी मधुरता है, कितनी विवशता है,

जीवन की ओर से कितनी निराशा है और अपना भविष्य इनकी दृष्टि में कितना अंधकारमय है।

बातचीत के सिलसिले में कभी-कभी ऐसा प्रश्न सामने आ जाता है कि उसका उत्तर समझ में नहीं आता। ऐसे अवसरों पर यदि उचित उत्तर सूझ जाय तो बड़ी प्रसन्नता होती है। कुशल उपन्यासकार के कथोपकथन में यह विशेषता अवश्य रहनी चाहिए। यद्यपि इससे पात्रों के चरित्र पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता ; क्योंकि एक तो ऐसे स्थल लंबे नहीं होते और दूसरे, घनिष्ठ संबंध केवल सूझ-बूझ से रहता है तथापि पात्र की हाजिरजवाबी से लेखक की तीव्र बुद्धि का पता लगता है। ऐसे प्रश्न सुनकर पाठक की उत्सुकता बढ़ जाती है और उत्तर में यदि कोई विशेषता हुई तो उसका चित्त चमत्कृत हो जाता है। 'गबन' से इसके दो उदाहरण देखिए—

(१) रतन—न जाने क्यों तुम्हे छोड़ने को जी नहीं चाहता। तुम्हे पाकर रमानाथ जी अपना भाग्य सराहते होंगे ?

जालपा—(मुस्कराकर) भाग्य-वाग्य तो कभी नहीं सराहते, घुड़कियाँ जमाया करते है—पृ० ८२।

(२) रमेश—कुछ समझ में नहीं आता। नोट थे, जेब में डाल कर चल दिये। बाजार में किसी ने नोट निकाल लिये ? (मुस्कराकर) किसी और देवी की पूजा तो नही करते ?

जालपा का मुख लज्जा से लाल हो गया ; उसने सम्हल कर उत्तर दिया—अगर यह ऐब होता तो आप भी इस इल्जाम से न बचते—पृ० १४५।

ऐसा ही एक उदाहरण 'निर्मला' में भी है। जिस भुवनमोहन ने धन के लोभ में निर्मला से विवाह करना अस्वीकार कर दिया था, वही जब इसके अनुपम रूप की चर्चा सुनता है, तब पछता-

पछता कर रह जाता है। एक दिन उसकी पत्नी सुधा ने एकांत कमरे में भुवनमोहन से निर्मला की अचानक भेंट कराते हुए कहा—लो बहन (धन के इस लोभी को) अब जितना चाहे फटकारो। मैं दरवाजा रोके खड़ी हूँ, भाग नहीं सकते।

पाठक यह सुनकर उनकी बात सुनने के लिए बड़ा उत्सुक हो जाता है। तभी डाक्टर साहब ने गभीर भाव से कहा—भागता कौन है? यहाँ तो सिर झुकाये खड़ा हूँ।

निर्मला ने हाथ जोड़कर कहा—सदा कृपादृष्टि रखिएगा; भूल न जाइएगा; यही मेरी विनय है।

'गोदान' से भी ऐसा ही एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है। मिस्टर खन्ना की पत्नी कामिनी ने संपादक ओंकारनाथ से कहा—कम से कम मेरा नाम तो अपने पत्र के ग्राहकों में लिखवा दीजिए।

आपका नाम ग्राहकों में नहीं, संरक्षकों में लिखूँगा।

संरक्षकों में रानियों और महारानियों को रखिए, जिनकी थोड़ी-सी खुशामद करके आप अपने पत्र को लाभ की चीज बना सकते हैं।

मेरी रानी-महारानी आप हैं। मैं तो आपके सामने किसी रानी-महारानी की हकीकत नहीं समझता। जिसमें दया और विवेक है, वही मेरी रानी है। मुझे खुशामद से घृणा है।

कामिनी ने चुटकी ली—लेकिन मेरी खुशामद तो आप कर रहे हैं।

संपादक जी ने गंभीर होकर श्रद्धापूर्ण स्वर में कहा—यह खुशामद नहीं है देवी जी, हृदय के सच्चे उद्गार हैं—७६।

कथोपकथन छोटे ही हों तो उनमे रोचकता रहती है, बड़े-बड़े परिच्छेद बातचीत को अरुचिकर बना देते हैं और अस्वा-

भाविक भी। 'गबन' में दो-एक स्थलों पर यह दोष खटकता है। वकील साहब और रमा की लड़कियों की शिक्षा-विषयक बातचीत में यही दोष है।

लंबे अवतरणों का उद्देश्य प्रचार है। अपने कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए, अथवा अपने मत की व्याख्या करके उसे मान्य बताने के उद्देश्य से लंबे अवतरणों की आवश्यकता होती है। प्रेमचंद जी ने अधिकांश स्थलों पर इसी उद्देश्य से लंबे अवतरण कहे-कहलाये हैं। उक्त उद्देश्य में सफलता मिलने पर भी व्याख्यान-जैसे लंबे अवतरण कथा की दृष्टि से अस्वाभाविक ही हैं।

भाषा और शैली

उर्दू के जो लेखक हिंदी में आते थे, प्रायः उनकी भाषा में एक दोष यह रहता था कि वे अपने साथ उर्दू-भाषापन ले आते थे, जो हिंदी की प्रकृति से मेल न खाने के कारण इसमें मिलता नहीं, खटकता रहता था। प्रेमचंद जी ने सन् १६१० के आसपास जब हिंदी में लिखना शुरू किया तब उर्दू की उन्हीं विशेषताओं को अपनाया जो हिंदी में घुल-मिल सकती थीं; साथ-साथ वे इसकी प्रकृति का भी बराबर ध्यान रखते रहे। फल यह हुआ कि कथा-साहित्य के निर्माताओं में अनुवादों की अधिकता के कारण भाषा-विषयक जो उपेक्षा का भाव आ गया था, प्रेमचंद जी उसका संस्कार कर सके और जनता के सामने भाषा का साहित्यिक तथा परिमार्जित रूप भी रख सके जिसको रुचि, उद्देश्यादर्श और संस्कार के कारण थोड़ा-बहुत परिवर्तित करके उनके परवर्ती कलाकारों ने सहर्ष अपना लिया।

'गबन' और 'गोदान' की भाषा सीधी-सादी और प्रवाहपूर्ण है। सजाने-सॅवारने का प्रयासपूर्ण प्रयत्न न किये जाने के कारण उसमें जलधारा-सा, विषय-स्थिति के धरातल के उपयुक्त, प्रवाह है। दैनिक जीवन में पारस्परिक संलाप के लिए भाषा पर जिस प्रकार नियंत्रण रखने की आवश्यकता नहीं समझी जाती, उसी प्रकार प्रेमचंद जी ने भी अपने पात्रों को रुचि, संस्कार और योग्यता के अनुसार स्वच्छंद भाषा का प्रयोग करने की स्वतंत्रता दे रक्खी है।

भाषा मनोभावों की व्यंजना का साधन है। रुचि और

संस्कार का प्रभाव जिस प्रकार व्यक्ति के विचारों पर पड़ता है उसी प्रकार भाषा पर भी। उपन्यास के सभी पात्र प्रायः एक ही संस्कार या आदर्श के नहीं होते। इसीलिए सबकी भाषा भी समान नहीं होती और भिन्नता का मूल कारण वातावरण की वह असमानता है जिसमें विभिन्न पात्र जन्मे-पले हैं। कारण, व्यक्ति और भाषा की प्रकृति में घनिष्ठ संबंध है। प्रेमचंद के सभी पात्रों को स्थूल रूप से हम दो वर्गों में रखते हैं—(१) ग्रामीण (२) नागरिक। ग्रामीण पात्रों में सबों की भाषा मिलती-जुलती है। 'गबन' में तो कोई ग्रामीण पात्र न होने से उनकी भाषा में भिन्नता का प्रश्न ही नहीं उठता; अन्य उपन्यासों में भी, जहाँ हिंदू और मुसलमान, दोनों बसते हैं, प्रायः एक ही भाषा बोली जाती है। अंतर केवल इतना है कि हिंदुओं की भाषा में संस्कृत शब्दों के तत्सम रूप अधिक मिलते हैं और मुसलमानों में अरबी-फारसी के। 'प्रेमाश्रम' के ग्रामीणों की भाषा में यह बात देखी जा सकती है।

प्रेमचंद जी के इन उपन्यासों के ग्रामीण हिंदू पात्र साधारणतः दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—(१) द्विजाति वर्ग जिसमें ब्राह्मण-ठाकुर मुख्य हैं; और दूसरे शूद्र जिसमें किसान हैं। प्रथम वर्ग वालों की भाषा की विशेषता यह है कि उसमें कभी-कभी संस्कृत के दो-चार व्यावहारिक तत्सम शब्दों का प्रयोग भी मिल जाता है। 'गोदान' में पंडित दातादीन की भाषा में यह बात देखी जा सकती है।

नागरिक पात्रों में हिंदू मुसलमान दोनों हैं और दोनों की भाषा भिन्न है। मुसलमान पात्र तो अरबी-फारसी प्रधान भाषा में बातचीत करते ही हैं; हिंदू पात्रों को भी जब उनसे बोलना पड़ता है तब वे अपनी भाषा की शुद्धता का बंधन ढीला कर देते हैं। बात यह है विचार-विनिमय करते समय हम अपने

मनोभावो को व्यक्त करने के लिए प्रायः ऐसे शब्द चुनते हैं जिन्हे सुननेवाला सरलता से समझ ले। इसी तथ्य के अनुसार मुसलमानों से बात करते समय हिंदू पात्र संस्कृत के लोकप्रिय शब्दों के स्थान पर कभी-कभी अरबी-फारसी के तत्सम शब्द रख देते हैं। प्रेमचंद जी के प्रारंभिक उपन्यासों में ही यह बात दिखायी देती है, 'गोदान' में नहीं। 'सेवासदन' प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासों में मुसलमान पात्र जो भाषा बोलते हैं उससे हिंदी वालो को कभी संतोष नहीं रहा; उसका बराबर विरोध ही किया गया। प्रेमचंद जी का उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने से केवल इतना था कि व्यवहार की स्वाभाविकता बनी रहे. परंतु हिंदी के आलोचको का विरोध होने पर उन्होने मुसलमान पात्रों की भाषा में स्पष्ट परिवर्तन कर दिया। नीचे के अवतरण देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

१—अब्दुललतीफ—जनाब, हमारे कौम की कुछ न कहिए। खुदगरज, खुदफरोश, खुदमतलब, कजफहम, कजरी कजवी जो भी कहिए, थोड़ा है। बड़े-बड़ो को देखिए, रँगे हुए सियार हैं, रियाका जामा पहने हुए। आप की जात मस्दरे बरकात है। ऐसा मालूम होता है कि खुदाताला ने मलायक में से इंतखाब करके आपको इस खुशनसीब कौम पर नाजिल किया है।

—सेवासदन, पृ० १६४।

२—मेरी यह इल्तजा आपको कबूल करनी होगी। खुदा ने आपकी यह दर्दमंद दिल अता किया है। क्यो नहीं, आप लाला जटाशंकर मरहूम के खलक हैं जिनकी गरीबपरवरी से सारा शहर मालामाल होता था। यतीम आपको दुआएँ देंगे और अंजुमन हमेशा आपकी मसनून रहेगी। + + +। दुआ कीजिए कि खुदा मुझे भी केनाअत की दौलत अता करे और मैं भी आपकी सोहबत से लफै उठाऊँ। —प्रेमाश्रम, पृ० ३५२।

उपन्यासों की भाषा में समानता न होने का कारण भी कथावस्तु की भिन्नता ही है। अस्तु।

'गोदान' का अधिकांश भाग ग्रामीण जीवन के चित्रण ने ले लिया है और उसका नायक होरी आदि से अंत तक ग्रामीणों से ही चारों तरफ घिरा होने के कारण कभी शहर के दर्शन तक नही करता। इसलिए 'गोदान' की भाषा में ठेठ ग्रामीण अर्द्ध-तत्सम और तद्भव शब्दो की ही प्रधानता है। इस उपन्यास में प्रयुक्त कुछ प्रचलित घरेलू और ठेठ शब्द ये हैं—उटंगी, घामण, रजा, गारा, हेठी, महावट, घटाटोप, मनुहार, अदरावन बौड़ा, चौओ, गड़ाप, सुरखुरू; नाकिस, ढई, रहैया, कुत्सा, धांड़ेगे बैठ, घिरे, मनावन, उड़ंकू, नफरी, चँगेरी, जुगाड़, अढ़ौन, हून, दौंगड़ा, तरके, टिकौना, कोल्हाड़, हकनाहक, नादिहेंदी, पुछत्तर, झक्कड़ (झक्की), गडमड और लड़ंतिए। हिंदी-अँगरेजी के इस प्रकार के बहुत से तद्भव शब्दो का प्रयोग सर्वत्र मिलता है—छिच्छा (शिक्षा), हरमुनियाँ, बिलम (विलंब), साखी (साक्षी), जरीबाना, सराप, पुलुस (पुलिस), जैजात (जायदाद), इसटाम (स्टांप) और कालिस (कालेज)। 'गोदान' में प्रेमचंद जी ने अपने ग्रामीण पात्रों द्वारा कुछ ऐसे शब्दो का प्रयोग कराया है जो शहर के पढ़े-लिखे बाबुओ को और साहित्य के किताबी छात्रो को खटकेंगे। ऐसे शब्द दो प्रकार के हैं। एक वे जिनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है जैसे—अनघड़, पुछत्तर, पिछलगुआ, तुनुक-मिजाज। दूसरे शब्द ऐसे है जो साधारण प्रसंग के साथ ही समझ में आते हैं, जैसे—उड़नघाइयाँ, लतिहाउज, अनीति। अँगरेजी शब्दो का प्रयोग दोनो रूप में हुआ है—शिक्षित-अशिक्षित पात्रों द्वारा भी वे व्यवहृत हुए है और लेखक ने स्वयं भी उन्हे अपनाया है। शिक्षित पात्रों की बातचीत में अँगरेजी के कुछ शब्द प्रयुक्त होते हैं। इसलिए प्रेमचन्द जी ने इनका प्रयोग

आरम्भ से ही किया है; यथा अमृतराय 'स्पीच' सुनने में तल्लीन थे। ×× रटी हुई 'स्पीच' है (प्रतिज्ञा, पृ० १)। पुलिस के 'चार्ज' में छोड़ दिया (कर्मभूमि पृ० ३५)। 'वल्गर' शब्द ही इस आशय को व्यक्त कर सकता है (रंगभूमि, पृ० ५०४)। यों इनका प्रयोग स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए ही हुआ है। हाँ, लेखक ने जिन शब्दों का प्रयोग किया है, उनमें से अधिकांश से वह छुटकारा पा सकता था, परन्तु उसने इसकी विशेष चिंता न की। कारण, पढ़े-लिखे पात्रों के कार्य-विवरण की व्याख्या करते समय ही उसने प्रायः इन शब्दों को अपनाया है। शिक्षित पात्रों द्वारा प्रयुक्त कुछ अँगरेजी शब्द ये हैं—कनवेसर, ब्लेडी, नेशनलिस्ट, मेटीरियलिस्ट, चांस, गेम, फेयर, पोजीशन आदि।

कुछ अँगरेजी शब्द पारिभाषिक हैं जिनका प्रयोग अर्थ की संपूर्णता के लिये किया गया है; यथा—अपील, चीफ सेक्रेटरी, प्रोग्राम, वोटिंग, एजेंट, काउंसिल, फीस, नोट, कंपनी, डाइरेक्टर, मेडल, एलेक्शन, पालिसी, फार्म, हाल, पबलिक, मिनिस्टर, कनवेसर, परसेंट, शुगर, इंश्योरेंस, फ्री पास, हाफ टाइम, वीमेंस लीग, डेपुटेशन, स्पेकुलेशन, डिमाक्रेसी, मैनिफेस्टो, विजिट, प्रेक्टिस, ग्रेड, एकेडमी, कैबिनेट, ट्रेजेडी, बिजनेस, बैंकर, थ्री चियर्स, बजट, ड्यूटी, रेकार्ड, इंचार्ज आदि।

इन सब तथा ऐसे ही अनेक अँगरेजी शब्दों का प्रयोग बराबर करते रहने पर भी प्रेमचन्द जी ने हिन्दी की प्रकृति का पूरा-पूरा ध्यान रखा है और विदेशी शब्दों के बहुवचन हिंदी व्याकरण के अनुसार ही बनाये हैं। यहाँ कुछ उदाहरण संकलित हैं—मिनिस्टरों, कौंसिलों, स्टाकों, फिलास्फरों, कम्युनिस्टों, थ्योरियों, नेशनलिस्टों, एजेंटो, म्युनिसिपैल्टियाँ, बोर्डों, बैंकरों आदि। 'अल्टीमेटम' शब्द का प्रयोग 'गोदान' में चार-पाँच बार किया गया है और ध्यान देने की बात है कि प्रायः सर्वत्र लेखक

ने ही किया है। अँग्रेजी के 'टाउट' शब्द के लिए लेखक को शायद कोई शब्द नही मिला; इसी से इसी का प्रयोग उसने 'गोदान' में (पृ० २६०) दो-तीन बार किया है।

विदेशी शब्दो के प्रयोग के संबंध में हमें सिर्फ एक बात कहनी है। अँगरेजी के जो छोटे-मोटे शब्द व्यावहारिक भाषा में घुलमिल गये हैं उनका प्रयोग चाहे लेखक ने स्वयं किया हो, चाहे शिक्षित-अशिक्षित पात्रों द्वारा कराया हो, स्वाभाविकता की दृष्टि से भाषा की प्रकृति के अनुरूप ही समझा जायगा। परंतु प्रेमचन्द जी ने स्थिति, घटना अथवा कथा-प्रगति की विवेचना करते समय अँगरेजी या अरबी-फारसी के जिन अप्रचलित या अनावश्यक शब्दो का प्रयोग किया है, उनका समर्थन भाषा-नीति अथवा अकृत्रिमता की दुहाई देकर कदापि नही किया जा सकता। ऐसे शब्द हिंदी में न खप सके हैं और न खप सकेगे ; हाँ, यह सम्भव है कि अपने सीमित क्षेत्र में कुछ दिन विचरण करने के पश्चात् अर्थ में आज की अपेक्षा अधिक विशेषता लाकर अपनी सीमा, शिक्षा की प्रगति होने पर, अधिक बढ़ा लें। अस्तु।

प्रेमचन्द जी के पास सहयोगी शब्दों का अक्षय भांडार है। प्रारंभिक उपन्यासो में तो इनका प्रयोग साधारण रीति से ही किया गया है, परन्तु 'गोदान' में इनकी भरमार है और वस्तुतः इन्होने भाषा की स्वाभाविकता के साथ-साथ उसकी व्यंजनाशक्ति को विशेष क्षमता प्रदान की है। ये सहयोगी शब्द दो प्रकार के हैं—(१) ठेठ शब्द (२) साहित्यिक शब्द। प्रथम से आशय उन सहयोगी शब्दों से है जो ग्रामीण जनता के साथ-साथ नागरिक जनसाधारण में भी प्रचलित है। ऐसे भी कुछ सहयोगी शब्द 'गोदान' में प्रयुक्त हुए हैं—दाँव-घात, बॉट-बखरा, डेढ़ी-सवाई, नजर-नजराना, घूस-घास, बैल-बधिए, चिरौरी-बिनती, गहने-गाठे, जाँच-तहकीकात, ताक-झॉक, भोज-भात, हिस्से-बखरे,

कर-करा, बूड़े-सूखे, पोत-लगान, सँभालना-सहेजना, सर-संदेश, पोथी-पत्रा, कथा-भागवत, दवा-दारू, झाँड़-फूँक, डूब-धँस, डाँड़-बाँध, मूड़न-छेदन, जगह-जमीन, झगड़े-टंटे, धर-पकड़, धूल-धक्कड़, खेत-खलिहान, मान-मनौवल, करज-कवाम, सौक-सिंगार, ताने-मेहने, गाली-गलौज, थुक्का-फजीहत, बीच-बचाव, सेंत-मेत, अलल्ले-तलल्ले, नालिस-फरियाद, लाँग-डाँट, माँग-चोटी, फाँस-फूँस, कार-परोज, बरतन-भाँड़े, बाजा-गाजा, पेड़-पालो, ठीक-ठाक, दान-दहेज, बूढ़ा-ठेला, जमीन-जैजात, लिलाम-तिलाम, मोटा-महीन, खुसी-खुर्रमी, घुड़का-डाँटा, हास-विलास, प्रेम-श्रेम, चना-चबेना, हाल-हवाल, रसद-चारा, नजर-नियाज आदि। इसी वर्ग के कुछ सहयोगी शब्द 'गोदान' में ऐसे मिलते हैं जो उक्त शब्दो की तरह प्रचलित नहीं हैं; जैसे—लंबे-तंगे, हमा-सुमा, दम-खम, हैस-बैस, जेर-बार। इनमें से एकाध का प्रयोग प्रेमचंद जी ने अन्य उपन्यासों में भी निःसंकोच किया है।

दूसरे प्रकार के सहयोगी शब्द शिक्षित नागरिक पात्रों में ही प्रायः प्रचलित है जिनका प्रयोग साधारण जनता तद्भव रूप में कभी-कभी कर लेती है। ऐसे कुछ शब्द ये हैं—घात-प्रतिघात, मान-मर्यादा, सेवा-सत्कार। सावधानी से ऐसे शब्दों का संकलन किया जाय तो एक छोटा-मोटा कोश तैयार किया जा सकता है।

'गोदान' में प्रेमचंद जी ने कुछ शब्दो का विशेषतासूचक प्रयोग किया है। दो-चार उदाहरण देखिए—

१—रात 'भीग' गई।

२—'बारे' कुशल हुई कि भादो में वर्षा हो गई—१५१।

३—क्या 'निराला' (निहार मुँह) ही पानी पियोगे।

४—मैं 'कुपद' (अनुचित) तो नहीं कह रहा हूँ।।

५—'भाई' शब्द का स्त्री के लिए स्वाभाविक प्रयोग भी एक

स्थान पर 'गोदान' में मिलता है। होरी अपनी स्त्री की नासमझी से खीझ कर कहता है—जो बात नहीं समझती उसमें टाँग क्यों अड़ाती है 'भाई' !—

'गोदान' की भाषा कई दृष्टियों से विशेष महत्व की है। परंतु उसमें दो बातें खटकती भी हैं—

१—कहीं-कहीं 'और' का अनावश्यक प्रयोग किया गया है; जैसे—धैर्य और त्याग और शील और प्रेम (३६६), दया और श्रद्धा और अनुराग, तालाबों और पोखरों और गढ़इयो, जीवन और दया और धैर्य, मक्का और ज्वार और कोदो।

२—विभिन्न भाषाओं के दो शब्दो को एक पास रखना जरा खटकनेवाली वाली बात है। 'हिंदुस्तानी एकेडमी' के एक भाषण में इसका बड़ा मजाक उड़ाया गया था। प्रेमचंद जी ने भी कहीं-कहीं ऐसे जोड़े बना दिये है, जैसे—विशेष दिलचस्पी (पृ० १२१), तमाशा समाप्त (पृ० १२२), जिदगी इंश्योर्ड (पृ० १४५)।

सारांश यह कि 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' की भाषा में बड़ा अंतर है। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय हिंदी वाले संस्कृत की और उर्दू वाले अरबी-फारसी की तत्समता-प्रियता के लिए प्रयत्नशील थे। 'गोदान' के समय 'हिंदुस्तानी' नाम से प्रचलित भाषा लिखने का आंदोलन जोरो पर था। इसलिए पढ़े-लिखों की भाषा भी प्रायः एक-सी है, चाहे वे हिंदू हो या मुसलमान, स्त्री हो या पुरुष, साहित्यिक हो या असाहित्यिक।

शैली

प्रेमचंद जी ने उपन्यास और कहानियाँ ही मुख्यतः लिखी हैं। साहित्य के इन अंगों का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन है तथा जीवन के सत्य व्यापारों और कार्यों से इनका संबंध स्थापित करके इन्हें उपयोगी बनाने के लिए लेखक में विशेष कौशल

अपेक्षित है। अतः उपयोगिता का स्थान गौण समझना चाहिए। कथाकार को इस ओर भी ध्यान रखने की आवश्यकता कदाचित् इसलिए है कि जो समय मनोरंजन में व्यतीत होता है, वह कुछ काम की बात भी जता जाय। मनुष्य के व्यस्त और छोटे जीवन में आज ऐसे सार्थक मनोरंजन की आवश्यकता पहले से बढ़ गयी है।

रचना को मनोरंजक बनाने का प्रधान साधन लेखक की शैली है। अत्यंत प्रिय घटना, जिसे सुनने को सभी उत्सुक हैं, यदि अरोचक ढंग से कही जाय तो श्रोताओं को सुनने में आनंद नहीं आता। इसी तरह साधारण से साधारण अरुचिकर विषय ऐसे आकर्षक ढंग से लिखा जा सकता है कि अनिच्छुक व्यक्ति भी क्षण भर रुक कर पढ़ने को लालायित हो जाय।

प्रेमचंद जी की रचना-शैली की यही विशेषता है। आरंभ में वे उर्दू में लिखते थे और वहाँ उनकी गिनती प्रसिद्ध लेखकों में थी। हिंदी में आने पर उर्दू-शैली का उनकी लेखन-शैली पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। परंतु आरंभ से ही उनकी प्रवृत्ति हिंदी-शैली की विशेषताएँ अपनाने की ओर रही और शीघ्र ही इस प्रयत्न में वे पर्याप्त सफलता प्राप्त कर सके। फलतः हिंदी की अभिव्यंजन-शैली के विकास में उन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया। उनकी शैली में सर्वत्र एक प्रकार की सरलता है जिसमें भावावेश के कारण सजीवता और बल आ जाता है। जहाँ कोमल भावों की व्यंजना है, वहाँ भाषा मधुर और कोमल हो गयी है; जहाँ क्रोध की उग्रता दिखायी गयी है वहाँ शैली भी उग्र और ओज-पूर्ण हो गयी है; जहाँ तिरस्कार, अवहेलना अथवा अपमान-संबंधी भाव स्पष्ट किये गये हैं, वहाँ शब्दों का चयन इस ढंग का मिलता है जिससे व्यंजित भाव स्पष्ट हो जाय। नीचे के उदाहरण देखिए—

रानी जाह्नवी के हृदय में सोफिया के प्रति स्नेह का संचार होता है, तब वह कहती है—बेटी, तुम देवी हो। मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया था, मैंने तुम्हे पहचाना न था। मुझे सब मालूम है बेटी! सब सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आत्मा इतनी पवित्र है, यह मुझे मालूम न था। आह! अगर पहले जानती।

—रंगभूमि, पृ० ७१२।

ऐसा ही स्नेह बुढ़िया पठानिन के हृदय में संचारित होता है और कृतज्ञ होकर वह कहती है—मेरा बच्चा इस बुढ़िया के लिए इतना हैरान हो रहा है। इतनी दूर से दौड़ा आया। पढ़ने जाते हो न बेटा? अल्लाह तुम्हे बड़ा दर्जा दे।

—कर्मभूमि, पृ० ४६।

परंतु जब इन्ही दोनो स्त्रियो को कारणवश क्रोध आ जाता है तब शैली ओजपूर्ण हो जाती है। उसी सोफिया से रानी जाह्नवी कहती है—मैं राजपूतनी हूँ। मरना भी जानती हूँ और मारना भी जानती हूँ। इसके पहले कि मैं तुम्हे विनय से पत्र-व्यवहार करते देखूँ, तुम्हरा गला घोट दूँगी।

—रंगभूमि, पृ० २५८।

बुढ़िया पठानिन भी क्रोध में आकर उसी अमर से आग भरे शब्दो में कहती है—होश में आ छोकरे! बस, अब मुँह न खोलना। चुपचाप चल जा, नही तो आँखें निकाल लूँगी। तू है किस घमंड में? खबरदार, जो कभी इधर का रुख किया। मुँह में कालिख लगा कर चला जा।

—कर्मभूमि, पृ० १७५।

गोबर के साथ अनुचित संबंध स्थापित करने के पश्चात् भोला अहीर की लड़की झुनिया जब होरी के घर आती है तब वह भी अपनी स्त्री धनिया से कठोर स्वर में कहता है—मैं यह

कुछ नहीं जानता। हाथ पकड़कर घसीट लाऊँगा और गाँव के बाहर कर दूँगा। बात तो एक दिन खुलनी ही है, फिर आज ही क्यों न खुल जाय। वह मेरे घर आयी क्यों? × × × जाय जहाँ उसके सगे हो। हमारे घर में उसका क्या रखा है? ❀ ❀ ❀ हमें क्या करना है, मरे या जिये। जहाँ चाहे जाय।

—गोदान, पृ० १६६-२०० ।

परंतु दूसरे ही क्षण द्वार खुलते और होरी को आते देखकर झुनिया जब भय से काँपती हुई उठी और होरी के पैरो पर गिर पड़ी, तब उसने झुक कर उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए प्यार भरे स्वर में कहा—डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह। जैसी तू भोला की बेटी है वैसी ही मेरी बेटी है। जब तक हम जीते हैं, किसी बात की चिंता मत कर। हमारे रहते तुझे कोई तिरछी आँखों से न देख सकेगा।

—गोदान, पृ० २०१ ।

इसी प्रकार 'जहाँ भावो का उद्गार हृदय का ज्वालामुखी फाड़कर निकलना' चाहता है वहाँ तो शैली ऐसी ही बलशाली हो गयी है, और जहाँ किसी मार्मिक, अथवा सुन्दर मनोहारी दृश्य या भाव को स्पष्ट करना होता है, वहाँ शैली में सरस अलंकारो की उन्होने योजना की है। इससे भी शैली में विशेष सजीवता आ जाती है। उदाहरण के लिए—

(१) गंगा ने उन्हे पकड़ने को हाथ फैलाया पर उसके दोनों हाथ फैले ही रह गये जैसे किसी गोली खाकर गिरनेवाली चिड़िया के पंख खुले रह जाते हैं।

—सेवासदन, पृ० १४ ।

(२) एक ही क्षण में वसंतकुमार लहरो में समा गये। केवल कमल के फूल पानी पर तैरते रह गये, मानो जीवन का

अन्त हो जाने के बाद उसकी अतृप्त लालसा अपनी रक्तरंजित छटा दिखा रही हो।

—प्रतिज्ञा, पृ० ३२।

(३) उसका कोमल गात ऐसा कृश हो गया था मानो किसी हास्य की प्रतिध्वनि हो ; मुख किसी वियोगिनी की पूर्वस्मृति की भाँति मलिन और उदास था।

—प्रतिज्ञा, पृ० ३२।

(४) जेल में आकर दो ही महीने में सुखदा का चित्त कुछ अधिक कोमल हो गया है जैसे पाल में पड़ कर कोई फल अधिक रसीला, स्वादिष्ट, मधुर और मुलायम हो जाता है।

—कर्मभूमि, पृ० ३४७।

(५) आनन्द महीनो चिंता के बंधन में पड़े रहने के बाद आज जो छूटा तो छूटे हुए बछड़े की भाँति कुलाचें मारने लगा।

—कर्मभूमि, पृ० १०४।

अलंकारो का यह विधान सुंदर और मार्मिक तो अवश्य है, परंतु जब लेखक इन्हीं के फेर में पड़ कर अलंकारों की झड़ी-सी लगाने लगता हैं तब शैली में स्वाभाविक मार्मिकता नही रह जाती। ऐसे स्थलों पर प्रायः प्रयासपूर्ण चमत्कार-प्रदर्शन प्रधान होता है। प्रेमचंदजी की रचनाओ में कुछ स्थल ऐसे भी हैं—

(१) व्याकुल हो गयी—जैसे दीपक को देखकर पतंग, वह अधीर हो उठी जैसे खाँड़ की गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारो की दृष्टि बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आयी—जैसे वेदना पूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल आते हैं।

(२) जैसे सुन्दर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है, और सुन्दर रंगो से चित्र में, उसी प्रकार दोनो बहनों

के आ जाने से झोपड़े में जान आ गयी; अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गयीं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ बैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर आती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गयी है।

ऊपर के उदाहरण देखकर कह सकते हैं कि उनका अलंकार विधान—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का आश्रय लेकर विषय को स्पष्ट और रोचक कर देना--कहीं-कहीं सुन्दर तथा प्रभावोत्पादक हो जाता है और लेखक की अभीष्टि-सिद्धि में सहायक होता है तो कहीं-कहीं पर अति के कारण अस्वाभाविक और कृत्रिम-सा लगने लगता है। हाँ, इसमें कोई संदेह नहीं कि कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में गद्यकाव्य सा आनन्द आता है। ऐसे स्थलों पर भावों की सुकुमारता और मधुरता का मिश्रण पाठक को मुग्ध कर लेता है। उदाहरण के लिए—

गगन-मंडल के चमकते हुए तारागण व्यंग्य-दृष्टि की भाँति हृदय में चुभते थे। सामने वृक्षों के कुंज थे, विनय की स्मृतिमूर्ति, श्याम, करुण स्वर की भाँति, कंपित धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम होती जैसे किसी संतप्त हृदय से हाय की ध्वनि निकलती है।

—रंगभूमि, पृ० ४५६।

सरलता के साथ-साथ प्रेमचंदजी की शैली में प्रायः सर्वत्र एक प्रवाह रहता है। शिथिलता का अभाव तो ऐसे स्थलों पर रहता ही है, साथ ही सजीवता के कारण एक प्रकार की प्रभावोत्पादक मनोहरता आ जाती है। वाक्य इस शैली के प्रायः छोटे-छोटे हैं जो 'गम्भीर घाव' करते हैं। एक वाक्य दूसरे से निकल

कर इस शैली को और भी गठित कर देता है। भाषा तो ऐसे स्थलों की प्रचलित होती ही है। उदाहरण के लिए भारतीय किसान का यह चित्र देखिए—

सीधे-साधे किसान, धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं; दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चंद्रमा बली थे; ऊसर मे भी दाना छिटक जाता तो कुछ न कुछ पैदा हो ही जाता था। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गयी, उधर गुड़ का भाव तेज था, कोई दो ढाई हजार हजार हाथ में आ गये। बस चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-संतों का आदर--सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी।

कानूनगो इलाके में आते, तो सुजान महतो की चौपाल में ठहरते। हल्के के हेड-कांस्टेबिल, थानेदार शिक्षा विभाग के अफसर, एक न एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे खुशी के फूले न समाते। धन्य भाग! उनके द्वार पर इतने बड़े बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उसका मुँह न खुलता था; उन्हीं की अब महतो-महतो कहते जबान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा लिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मँजीरे मँगवाये गये, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जहूरा था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठ तले एक बूँद भी जाने की कसम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग।

इस अवतरण में जैसे मीठे व्यंग्य की पुट है वैसी ही उनकी

रचनाओं में कई स्थानों पर मिलती है। यद्यपि उन्होंने सामाजिक बुराइयाँ, राजनीतिक दोष, धार्मिक पाखंड, नैतिक कुरीतियों आदि की व्यंग्यात्मक शैली में विवेचना की है तथापि उनका व्यंग्य कभी इतना चुटीला नहीं होता जो किसी को कष्ट पहुँचाये, उसमें सर्वत्र एक मिठास रही है जो मनोरंजन के साथ-साथ हमारी आँखें भी खोलती है। हास्य और व्यंग्य की मिश्रित पुट इस अवतरण को कैसा मार्मिक बना देती है! वकील साहब अपने खर्चे में कमी करने की चिंता में हैं। परेशान होते-होते एक विचार सूझा कि रातिब में कुछ कमी कर दी जाय; इस पर उनकी स्त्री सुभद्रा व्यंग्य करती हुई कहती है—

हाँ यह दूर की सूझी! घोड़े को रातिब दिया ही क्यों जाय? घास काफी है। यही न होगा, कूल्हे पर हड्डियाँ निकल आवेंगी। किसी तरह मर-जी-कर कचहरी तक ले ही जायगा। कोई यह तो नहीं कहेगा कि वकील साहब के पास सवारी नहीं है।

—सेवासदन, पृ० ६६।

उनकी शैली की अंतिम विशेषता मुहावरों और सूक्तियों का सुंदर प्रयोग। उर्दू पर पूर्ण अधिकार होने के कारण मुहावरों की झड़ी-सी लगाना तो प्रेमचंद जी के लिए स्वाभाविक था और उर्दू क्षेत्र से आनेवाले लेखकों ने ऐसा किया भी है; पर चार-पाँच वाक्यों के बीच में एक-आध 'मार्मिक और अनुभूतिमूलक' सूक्ति जड़ देना उनकी निजी विशेषता है। इन सूक्तियों में जीवन के सच्चे अनुभवों का सार रहता है और इसीलिए इनमें हृदय को छूने की शक्ति है। दो-एक सूक्तियाँ देखिए—

(१) प्रेम हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका वश नहीं चलता।

(२) प्रेम हृदय के समस्त सद्भाव का शांत स्थिर उद्गार-हीन समावेश है।

(३) अनुराग, यौवन या रूप या धन से नहीं उत्पन्न होता। अनुराग अनुराग से उत्पन्न होता है।

(४) बड़े आदमियों के रोग भी बड़े होते हैं। वह बड़ा आदमी ही क्या जिसे कोई छोटा रोग हो।

(५) मनुष्य बराबर वालों की हँसी नहीं सह सकता, क्योंकि उनकी हँसी में ईर्ष्या, व्यंग्य और जलन होती है।

ऐसी सूक्तियों से हमारे जीवन का संबंध है और इसीलिए किसी समय इनका उसी प्रकार आदर होगा जिस प्रकार कबीर या तुलसी की सूक्तियों का आज हो रहा है।

—:०:—

देशकाल का प्रतिबिंब

बूढ़े, प्रौढ़ और युवक, समाज में इन्हीं की गिनती होती है। हमारे यहाँ आज नब्बे प्रतिशत बूढ़े ऐसे हैं जिन्होंने, दैवी आपत्तियों की बात यदि छोड़ दी जाय तो कहा जा सकता है कि बड़ी सादगी, सच्चरित्रता, सुख-शांति और पारस्परिक सहानुभूति से जीवन के दिन बिताये हैं; जीवन के प्रभात-काल से तीसरे पहर तक सप्राण और पुष्टिकारी भोजन की जिन्हें कमी नहीं रही; सादगी, अकृत्रिमता और शारीरिक श्रम ने उनके स्वास्थ्य को डाक्टरी दवा का मुहताज नहीं होने दिया। स्वभाव के वे सरल निष्कपट, प्रेमी और दयालु हैं; हाथ से काम करने में उन्हें लज्जा नहीं आती। धर्म पर उनका विश्वास है पूजा-पाठ, तीर्थ-व्रत और कर्म कांड को वे धर्म का आवश्यक अंग समझे हुए हैं। 'गबन' में देवीदीन इसी वर्ग का प्रतिनिधि है। रमा की दृष्टि में वह सरल, परोपकारी और निष्कट प्राणी है। सभ्यता के नाम पर मौखिक सहानुभूति भर दिखाकर शांत हो जाना इस वर्ग ने नहीं सीखा; प्रत्युत बिना जान-पहचानवाले यात्री के किराये के रुपये वह बेमाँगे ही दे सकता है। आज की जनता की तरह गाड़ी के सभी यात्री ऐसे बूढ़े को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं; परंतु उसी तरह जैसे श्मशान पर पहुँचकर हमारे मन में संसार की नश्वरता को लेकर दार्शनिक विचार क्षण भर के लिए ही आते हैं।

भारतीय समाज में देवीदीन जैसे व्यक्तियों की संख्या अभी नब्बे प्रतिशत है। शेष दस व्यक्ति नयी रोशनी के हैं। इन्होंने विदेशी शिक्षा, रहन-सहन और चाल-ढाल की ऊपरी बातें अपना

ली है; परंतु संस्कार इनके अब भी पूर्ववत् भारतीय ही हैं। 'गबन' के वकील साहब को हम इसी श्रेणी में रख सकेंगे।

प्रौढ़ो के दो वर्ग हैं। एक उक्त बूढ़ों के संपर्क में अधिक रहने से उन्हीं की विशेषताएँ-अविशेषताएँ अपना सका है और दूसरा, अँगरेजियत की नयी रोशनी में पढ़कर बड़ा हुआ है। प्रथम वर्ग में जितनी भारतीयता की छाप है, द्वितीय में, उसी अनुपात में, अँगरेजियत की समझनी चाहिए। भौतिकता-प्रेम, जीवन की व्यस्तता का रोना, हार्दिक सहानुभूति की दुहाई अपना काम अटकने पर देना, पर दूसरे के मौके पर विवशता का पल्ला पकड़ने का प्रयत्न करना, उचित से कहीं अधिक मात्रा में अनुचित उपायों का सहारा ले आवश्यकता से अधिक धन अर्जन कर डाक्टरों या वकीलों की फीस में खर्च कर देना जिनका दैनिक जीवन है, उनकी संख्या हमारे नागरिक समाज में साठ प्रतिशत के लगभग होगी। शेष चालीस प्रतिशत प्रथम वर्ग में आते हैं जिनको दस-पाँच सेर का बोझ सर पर उठा लेने में शर्म नहीं मालूम होती, रिश्वत के नाम पर पैसा लेते जो आज भी सकुचाते हैं। 'गबन' में दयानाथ प्रथम वर्ग के और रमेश बाबू तथा दीनदयाल दूसरे वर्ग के व्यक्ति है।

युवकों में पचास प्रतिशत स्वयं विदेशी शिक्षा पाकर अथवा अँगरेजी वातावरण में पलकर विदेशीपन अपनाने लगते हैं और भारतीय संस्कृति की महत्ता से अज्ञानता के कारण उनका चित्त चमत्कृत नहीं होता। रहन-सहन, चाल-ढाल आदि उनकी सभी बातों पर धीरे-धीरे विदेशीपन का प्रभाव पड़ता जाता है। शेष पचास प्रतिशत में चालीस ऐसे हैं जिन्होंने यद्यपि अँगरेजी शिक्षा नहीं पायी है, तथापि शिक्षित युवकों के साहचर्य से अँगरेजियत की विशेषताएँ समझी जानेवाली बातों को उन्होंने सहर्ष अपना लिया है। दस प्रतिशत युवक अभी भारतीय संस्कारों से

ही प्रभावित हैं, यद्यपि उनकी दृष्टि भी अपने समवयस्कों की ओर जा चुकी है। मणिभूषण की गिनती पहले वर्ग में होगी और रमानाथ की दूसरे में।

स्त्रियो में वृद्धाएँ अभी पुराने रहन-सहन को ही सम्मान देती आ रही हैं। प्रौढ़ाओं ने अँगरेजी पहनावे की स्वच्छता को अपनाया है। युवतियों के मुख्यतः तीन वर्ग हैं। प्रथम वर्ग उन वृद्धाओं और प्रौढ़ाओं के दबाव में है जिन्हें स्त्री-स्वतंत्रता का विरोधी समझा जा सकता है। आज दिन इस वर्ग की संख्या दस प्रतिशत से अधिक न होगी। यही संख्या थोड़ी-बहुत पढ़ी-लिखी उन युवतियो की है जो समर्थ और अग्रगामी परिवारों की दो-एक सहपाठिनियो से मिलकर विदेशी रहन-सहन की ऊपरी बातें अपनाने लगी हैं। इनमें एक युवती यदि पाश्चात्यपन की पुजारिन् मिलेगी तो नौ ऐसी होंगी जिन्होने उसकी नकल करना भर सीखा है। शेष अस्सी प्रतिशत युवतियाँ शिक्षा के क्षेत्रों और केंद्रो से बाहर पलकर मानव स्वभाववश नये रंग-ढंग अपनाने को तैयार हैं। रतन की गिनती दूसरे वर्ग में और जालपा की तीसरे वर्ग में की जानी चाहिए।

—:०:—

'गबन' में जीवन की व्याख्या

प्रकट और गुप्त अभाव-जन्य व्यक्त-अव्यक्त व्यथा की कहानी का नाम जीवन है। मनुष्य उस समय तक दुखी और मलीन रहता है जब तक उसे अभावों की चिंताएँ कोचती रहती हैं। अभावों में भी कुछ मुख्य होते हैं और कुछ गौण। गौणों के बिना दुखी रहने पर भी मनुष्य की क्रियाशीलता ज्यों की त्यों बनी रहती है, नियमों का क्रम नहीं टूटता। परंतु किसी भी मुख्य अभाव की चिंता जीवन को नीरस बना देती है। उस समय व्यक्ति जीवन के दैनिक काम मशीन की तरह करता है; उसके मस्तिष्क और हृदय में संबंध की स्निग्धता नहीं रह जाती। पश्चात्, शरीर की सभी इंद्रियाँ केवल मस्तिष्क द्वारा संचालित होती हैं; हृदय उनके कार्यों में कोई रस नहीं लेता, उदासीन बना रहता है। कभी-कभी अभाव के आघात का घाव भयंकर होने पर भी कालांतर में धीरे-धीरे सूख जाता है। ऐसी स्थिति में में दो बातें संभव हैं। यदि सामाजिक जीवन के कार्य-कलाप से ऊबकर व्यक्ति उदासीन हो संसार से विरक्त हो गया तो जीवन की एकरसता बढ़ जाती है; रुचि किसी एक विषय में केंद्रित होकर अन्यों की ओर से तटस्थ बन जाती है। और कभी वह अभाव के मूलाधार की ओर से उदासीन होकर जीवित रहने के लिए सांसारिक संघर्ष में इसलिए शक्तिभर भाग लेता है कि इससे बचने का उपाय तो उसकी समझ में आता ही नहीं।

'गबन' की जग्गो और देवीदीन का जीवन-क्रम इसी ढंग का है। कराल काल की कोपानल में अपने दो जवान पुत्रों

को झोंकने पर विवश होकर शेष दो को उन्होंने 'सुदेशी-विदेशी' के महायज्ञ की पूर्णाहुति में समर्पित कर दिया। पुत्रों का अभाव उनके जीवन का प्रधान अभाव है जिसे भुला देने को देवीदीन तो बिना बात की बात में हँसता है, और बुढ़िया चार बजे सबेरे से बारह बजे रात तक जीवन-संघर्ष में प्रतिपल जूझती हुई अपनी चेतना-शक्ति को भुलावे में डालने का प्रबल प्रयत्न करती है। कुछ समय पश्चात् रमा को पाकर पुत्राभाव के प्रति तटस्थता का भाव मिटने लगता है, दोनों का संयम छूट जाता है। देवीदीन की उदासीनता दयामिश्रित होने के कारण अधिक शुष्क नहीं हुई है। इसलिए वह प्रथम परिचय से ही इस अपरिचित युवक के ऊपर अपने भूखे वात्सल्य को न्योछावर कर देता है। बुढ़िया जग्गो की चेतनाशक्ति अर्थ-संग्रह में विशेष संलग्न है; अतः प्रथम परिचय तो दूर, दो महीने तक समीप रहने पर भी रमा को वह 'अपना' नही समझती; उससे कुढ़ती रहती है और 'श्लेष-रूप में कभी कभी ताने भी सुनाती है'। रमा के लिए उसका वात्सल्य उस समय जागता है जब पति देवीदीन की अनुपस्थिति से ऊब कर उसके 'कुसंग' से छुटकारा पाने की चाह करते ही मृत पुत्रों की उसे याद आ जाती है। लकड़ी की वार्निश चढ़ी जिस निर्जीव जोड़ी को वह अपने 'लाल' समझ रही है उसीके पास 'सजीव लाल' को देखकर वात्सल्य का आधार परिवर्तित हो जाता है और स्नेहभरी दृष्टि से रमा की ओर देखकर स्नेह-सिंचित स्वर में मीठे संतरे खाने का प्रस्ताव वह कर बैठती है।

मानव-जीवन में भावों अभावों की चाह की ऐसी क्रमिक व्याख्या के लिए लेखक ने सर्वत्र बड़े संयम और धैर्य से काम लिया है।

विभिन्न पहलुओ से जीवन की व्याख्या प्रेमचंद जी के ग्रंथों

में मिलती है। सुख-दुख, आशा-निराशा, सफलता-असफलता राग-विराग, सभी की साधारण-असाध-रण अवस्थाओं का चित्रण उन्होने किया है दया, प्रेम, श्रद्धा, घृणा, ईर्ष्या, हास्य, व्यंग्य, आक्षेप, विनोद, कटाक्ष, प्रलाप, सभी मानसिक स्थितियो में स्त्री-पुरुष की विचारधारा से उन्होने हमें परिचित कराया है। उनके पात्र जीवन के कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करके स्वयं कर्म करते हैं और हमें अपने रंग में रँग देते हैं—सुख में हँसा देते है दुख में रुला भी देते हैं।

सुख-दुख के साथ आँख-मिचौनी खेलना, इसी का नाम तो जीवन है। स्वास्थ्य. धन-धाम, धान्य, संतान, परिवार आदि सुखद साधनो का एक वर्ग है और प्रयत्न पूर्ति की आशा, सफलता दूसरा। प्राणी को सुख देनेवाले इन दोनो साधनो का संबंध व्यक्ति के निजी स्वार्थ से है; अपने ही सुख से वह सुखी होता है। इससे शुद्धतर सुख का अनुभव मनुष्य उस समय करता है जब दया, धर्म, परोपकार, करुणा आदि मनोवृत्तियो की प्रेरणा से दूसरो के रोते हुए हृदयों को प्रसन्न करने के लिए वह प्रेरित होता है। मानवोचित सुख का यह अनुभव उस समय ओछा जान पडता है जब व्यक्ति अपने कार्यों-उपकारो का ढिंढोरा पीटता फिरता है। प्रेमचंद ने जीवन की विभिन्न स्थितियो में मिलनेवाले सुख के इन सभो अनुभवो का सविस्तार वर्णन किया है और सहानुभूति के विभिन्न रूप भी उनसे संबद्ध मिलते हैं। इसी प्रकार दुःख, चिंता, कष्ट की सभी अवस्थाओं और रूपो की अपने उपन्यासो में उन्होने व्याख्या की है। जन्म, त्योहार, संस्कार, विवाह आदि अवसर इतने शुभ और सुखद हैं कि सर्वथा साधनहीन व्यक्ति का हृदय भी प्रसन्नता से नाच उठता है। 'गोदान' मे होरी के घर गाय आती है तो सारा परिवार निर्धनता के कष्ट भुलाकर अपार सुख का अनुभव करता

है। 'कर्मभूमि' में अमरकांत के पुत्र का जन्मोत्सव धनी के सुख से परिचित कराता है और 'गबन' में दयानाथ के पुत्र का विवाहोत्सव मध्यवर्गवाले पस्तहिम्मत क्लर्क के हौसलों से। दुखद अवसरों में प्रियजन की मृत्यु सबसे कष्टदायक होती है। प्रेमचंद ने इस दुख का अत्यंत करुणोत्पादक वर्णन किया है। युवती रतन के पति वकील साहब की कलकत्ते में मृत्यु दिखाकर जहाँ वह 'अपने' के लिए विकल है, पर कोई सहारा नहीं दिखायी देता। रतन अकेली है, उसका अपना कोई नहीं है। इसलिए उसका दुख सम्मिलित परिवार की युवती के सम-दुख से कहीं अधिक दुखदायी है। इसी प्रकार अन्य दुखद घटनाओं का चित्रण करके जीवन में दुख की अत्यधिक प्रधानता से हमें परिचित कराया गया है।

अकेले (जैसे रमेश बाबू) का जीवन प्रेमचंद ने दिखाया है, दुकेले (जैसे देवीदीन और जग्गो, रतन और वकील साहब) और सम्मिलित परिवार (जैसे दयानंद) का भी। घर के जीवन की विशेषताएँ उन्होंने बतायी हैं और परदेश की भी। निर्वासित तक को उन्होंने नहीं छोड़ा। रमा कलकत्ते में भागा हुआ पड़ा है। 'क्या करे और कैसे करे' की समस्या उसके सामने है। धन वह चाहता है, पर कमाने का कोई साधन उसके पास नहीं है। पहले वह अखबार नहीं पढ़ता था; पिता ने दो-एक बार कहा भी तो उनकी तरफ घूरता रह गया। पर 'आज यह वाचनालय जरूर जाता है; अपने नगर और प्रांत के समाचारों के लिए उसका मन सदैव उत्सुक रहता है'—पृ० १६०। निर्वासित व्यक्ति के मनोभावों के चित्रण से हमें लेखक की सूक्ष्मदर्शिता का परिचय मिलता है। रमा अब कम से कम पाँच हजार रुपये हाथ में आ जाने पर घर जाने की सोचता है—पृ० १६१। 'गोदान' में गोबर भी इसी तरह घर से भाग कर लखनऊ आने पर अपनी

हैसियत के अनुसार दो-तीन सौ लेकर घर लौटने का निश्चय करता है।

जीवन की एक विषमता यह है कि हमारे निकटम संबंधियों का भी स्वभाव हमारे से मेल नहीं खाता। घनिष्ठतम परिचितों और संबंधियों में स्वभाव की यही विपरीतता संघर्ष को जन्म देती है जिससे कथा का विकास होता है। प्रेमचंद जी ने अनेक स्थलों पर इस तथ्य का सहारा कथानक के विकास के लिए लिया है। 'प्रतिज्ञा' में सास-बहू के और 'गोदान' में मिस्टर खन्ना और उनकी पत्नी के स्वभाव परस्पर विरोधी हैं। 'गबन' में देवीदीन आलसी है, निखट्टू है, चरस-गाँजे का पियक्कड़ है। बुढ़िया जग्गो, इसके विपरीत, काम के पीछे हाथ धोकर पड़ी है; सवेरे चार बजे से रात के ग्यारह बजे तक जुटी रहती है। देवीदीन रमानाथ की दशा पर तरस खाकर, रेल से उसका किराया देकर साथ लाया है; बुढ़िया को उसका घर में रहना भी नहीं सुहाता; 'दूसरों पर रखकर श्लेषरूप में उसे सुना-सुनाकर दिल का गुबार' निकालती है।

अपनी हैसियत और पद के लोगों का संबंध मान-मर्यादा का वर्द्धक सिद्ध होता है; परंतु जीवन में अनेक अवसर ऐसे भी आते हैं जब व्यक्ति अपनी संपन्नता का ध्यान छोड़कर साधारण स्थिति वालों की संगति में सुख-शांति पाता है। बराबर स्थिति वालों में प्रतिष्ठा हो सकती है; परंतु तकल्लुफ, दिखावा, ईर्ष्या और निंदा का अभाव भी वहाँ नहीं रहता। निंदा और ईर्ष्या से तो मनुष्य को घृणा होना स्वाभाविक है; परंतु दिखावे और तकल्लुफ से भी वह ऊब जाता है; उसकी चाह होती है कि किसी निष्कपट और सरल प्राणी की आडम्बरहीन छाया में शीतल शांति की साँस वह ले सके। सम्पन्न जीवन की यह

तृष्णा इस बात की परिचायक है कि विगत जीवन में तृषित को सच्चे सुख का अभाव अवश्य रहा है। 'गबन' की रतन प्रतिष्ठित नागरिको के घरानो से हेलमेल न बढ़ाकर निर्धन परिवार की वधू जालपा से बहनापा जोड़ती है; कारण, यहाँ सम्पत्ति की विलासिता और आडम्बर के स्थान पर प्रेम है, सहानुभूति है, सरलता है।

आदर्श और यथार्थ

साहित्य को जीवन की व्याख्या कहा जाता है। इसके दो रूप साहित्य में दिखते हैं। पहला, सहज और प्राकृत रूप जिसे साहित्यिक ने जैसा देखा है वैसा ही चित्रित किया है। दूसरा रूप वह है जिसे लेखक अपने संस्कार अथवा सद्‌बुद्धि के अनुसार मानव-मात्र के लिए हितकर समझकर दूसरो के अपनाने के उद्देश्य से सामने रखता है। साहित्य में प्रथम को यथार्थ और द्वितीय को आदर्श चित्रण कहा गया है। यथार्थ और आदर्श चित्रण में अंतर, संभव है, यह समझा जाय कि प्रथम रूप में लेखक जीवन या समाज की स्थिति का सत्य चित्रण करता है; इसलिए अनेक लेखको का यथार्थ चित्रण प्रायः समान होना चाहिए। भिन्न साहित्यकारों के आदर्श भिन्न होते हैं और चित्रण की गतिविधि पर उन्हीं का प्रधान प्रभाव पड़ता है। अतः आदर्श चित्रण सभी लेखको का भिन्न रहना चाहिए।

परंतु सत्य यह है कि एक ही यथार्थ चित्र भी अनेक लेखको के ग्रंथो में भिन्नता लिये हुए मिलेगा और यह भिन्नता उस समय और भी बढ़ जायगी जब स्थिति का चित्रण न कर लेखक, जीवन की व्याख्या में प्रवृत्त होगा। कारण स्पष्ट है। एक ही सत्य चित्र को विविध दिशाओं में बैठे अनेक लेखक भिन्न दृष्टिकोण से देखेंगे। उदाहरण देखने से यह कथन समझ में आ जायगा। सामने मैदान में एक निर्धन स्त्री अपने दो बालकों के साथ भूख से तड़प रही है। राजनीतिक दृष्टिकोण वाला लेखक इस दृश्य को पाठकों के सामने इस ढंग से प्रस्तुत करना चाहेगा कि वर्तमान

शासन में जीवन के संकट अथवा शासक-वर्ग द्वारा प्रजा के दुख दूर करने की असावधानी या इसी ढंग की कोई बात सिद्ध करने का अवसर उसे मिल सके। अर्थशास्त्रज्ञ इस दृश्य से भारतीय निर्धनता प्रमाणित करने का मसाला पा जायगा; समाजवादी साम्यवाद की दुहाई देकर अर्थ-वितरण की वर्तमानकालीन विषमता की पुकार मचायेगा और इसी प्रकार धर्म का पुजारी इससे भाग्यवाद, कर्मवाद और कलियुग के पापों की घोषणा करने का प्रयत्न करेगा। अपने वर्णन की प्रस्तावना सभी लेखक इस ढंग से आरम्भ करेंगे कि चित्र की यथार्थता तो कम, पर प्रस्तावित समस्या ही पाठक का ध्यान अधिक आकर्षित कर सकेगी। अस्तु।

प्रेमचंद जी ने जीवन की व्याख्या दोनों ही रूपों में की है। यथार्थवादिता को तो उन्हें इसलिए अपनाना पड़ा कि पाश्चात्य साहित्य का अनुकरण-लालसा से अध्ययन करके प्रत्यक्ष की वास्तविकता पर विश्वास करने की प्रवृत्ति रखनेवाले आधुनिक पाठक कल्पना-प्रधान वर्णन की भूल-भुलैया में ज्यादा दिन तक भटकने को तैयार नहीं थे। और आदर्शवाद को अपनाने का कारण है—आर्य-संस्कार-प्रधान वातावरण में उनका फलना-फूलना जिसका पर्याप्त प्रभाव अभी पचास प्रतिशत हिन्दुओं पर स्पष्ट दिखायी देता है तथा जिसके फलस्वरूप उनकी दृष्टि बराबर उपयोगितावाद पर टिकी है।

इस संबंध में 'इन 'वादों' के समर्थकों के लिए ध्यान रखने की बात यह है कि यथार्थ और आदर्श, दोनों के चित्रण में प्रेमचंद जी ने संयम को हाथ से नहीं जाने दिया है। यथार्थ के चित्रण में अरुचिकर नग्नता के अश्लील और अभद्र चित्र उन्होंने जनता के सामने नहीं रखे और आदर्श की कल्पना में उतने

मग्न भी नहीं हो गये कि कोरे भावुक और कल्पनाप्रिय कवियों की तरह सुखद स्वप्न भर देखते रहते। वस्तुतः यथार्थ की कुरूपता और क्षोभकारिता मिटाकर सुन्दर-सुडौल रूप देना उनका प्रयत्न रहा और हम समझते हैं कि मानव मात्र के कल्याणार्थ, दृष्टि-कोण की संकुचितता से मुक्त, सभी सहृदय इसके लिए उनका अभिनन्दन ही करेंगे।

यथार्थ और आदर्श के संबंध में 'कर्मभूमि' में डाक्टर शांतिकुमार ने अमरकांत से कहा है—'मेरे आदर्शवाद में व्याव-हारिकता का स्थान है'; क्योंकि उन्हीं के शब्दो में—'कोरा आदर्शवाद खयाली पुलाव है'—पृ० ११३। आदर्शवाद के संबंध में प्रेमचंद जी का यही मत मान सकते हैं। अमरकांत ने इसकी यों आलोचना की है—'इसका अर्थ है कि आप गुड़ खाते हैं, गुलगुलों से परहेज करते हैं।' हम समझते हैं कि आदर्श की धुन में व्यावहारिकता का ध्यान न रखनेवालों का यही मत उक्त कथन के संबंध में हो सकता है। आगे चलकर डाक्टर साहब ने कहा है—'अभी तुम मुझे जो चाहो समझो, पर एक समय आयगा, जब तुम्हारी आँखे खुलेंगी और तुम्हें मालूम होगा कि जीवन में यथार्थ का महत्व आदर्श से जौ भर भी कम नही है'—पृ० ११४। यह आदर्श और यथार्थ का समझौता है, क्योंकि डाक्टर साहब के शब्दों में, 'हमारा जीवन समझौते पर ही टिका है'।

प्रेमचंद जी ने तथ्यों पर पैनी दृष्टि रखी है। इनके चित्रण में वे बराबर यथार्थवादी रहे हैं और प्रश्न के दोनों पक्षों पर उन्होंने निर्लेप होकर सदैव विचार किया है। समस्याओं से संबंधित पात्रों का चरित्र-चित्रण भी वे इसी रूप में करते हैं तथा असत् पात्रों के उन्नत-सशक्त बनने की कहानी लिखते समय जरा भी असहिष्णु नहीं होते। यह उदारतापूर्ण निर्लेपता प्रत्येक

समस्या के प्रारम्भिक विकास भर बनी रहती है और इतने समय तक विपक्ष की शक्ति बढ़कर पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। पश्चात्, कथा का उतार शुरू होता है और यहीं से प्रेमचंद की आदर्शवादिता जन्मती है, यद्यपि इस परिवर्तन के संबंध में वे कोई परिचयात्मक टिप्पणी या व्याख्या नहीं देते।

इनकी एक विशेषता यह भी है कि कथा-विकास की पूर्व और परवर्ती धारा की दिशा में होनेवाला परिवर्तन साधारण पाठक लक्ष्य भी नहीं कर पाता। यथार्थ की झलक और आदर्श का संकेत—इस मिश्रण की खूबी यह है कि द्वितीय हमे खटकता नही और प्रथम से घुलामिला उसी का संस्कृत रूप-सा मालूम होता है जो आलोचना-सिद्धांतो के अनुरूप भले ही न हो, परतु जनसाधारण का सभी दृष्टियो से प्रिय है। अतः प्रेमचन्द के आलोचकों को पता लगाना है कि कहाँ तक उनका वर्णन यथार्थ की सीमा में है और कहॉ से आदर्श का जन्म होता है। संगम की तरह यथार्थ की यमुना स्वच्छंद रूप से अपने तटवासियो को अद्भुत सौंदर्य से तृप्त करती है और आदर्श की गंगा से मिल जाती है। दूर तक सित-असित दोनो धाराएँ हिलती-मिलती, कभी स्वच्छ कभी श्याम छटा से दर्शको को रिझाती चलती हैं; परन्तु अंत में यथार्थ की यमुना आदर्श की गंगा में विलीन हो जाती है। पश्चात्, क्रमिक गति से कथा उसी ओर बढ़ती है जिधर लेखक की आदर्शवादिता का संकेत होता है।

यहाँ प्रश्न निर्देशित आदर्श से सहमत होने न होने से उतना नही है जितना इस बात से कि पीड़ित या भुक्तभोगी समाज को प्रेमचंद जी की रचनाओं से अपनी दुखद और हीन स्थिति से मुक्त होने का कोई आकर्षक संदेश, जीने का कोई नवीन उत्साह सुख-शांति प्राप्ति की आशा का सांत्वनामय संतोष मिला है या नहीं; और हम देखते हैं कि प्रायः प्रत्येक समस्या का सहृदयता

के साथ अंत करते समय उनकी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि इस ओर ही रही है। फलतः वे अन्य उपन्यासकारों से भिन्न विशिष्ट गौरवपूर्ण पद के अधिकारी हो गये हैं।

× × ×

यथार्थ और आदर्श चित्रण को दृष्टि से यदि 'गबन' को देखा जाय तो दो बातें मुख्य रूप से सामने आती हैं। पहली तो यह कि उपन्यास के पूर्वार्द्ध का चित्रण यथार्थवाद के अंतर्गत आता है और उत्तरार्द्ध का आदर्शवाद के! पूर्वार्द्ध में नायक रमानाथ है और नायिका जालपा। इस आधुनिक युवा-दंपति के कार्य, व्यवहार, भविष्य के लिए आयोजन, सभी में यथार्थवाद की झलक है। उनका घूमना-फिरना, उनकी जीवनचर्या, उनका रहन-सहन, उनकी विलास-प्रियता, उनका साज-शृंगार आदि पर ध्यान देने से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि इन बातों के लिए लेखक ने जैसे उनको पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी है और स्वयं तटस्थ की भाँति उनके विविध कार्य-कलाप के चित्र खींचता चलता है। रमानाथ के घर से भागने तक यही स्थिति बनी रहती है; यही नहीं, इस भाग की कथा के विकास में योग देनेवाले सभी पात्र भी मनमाने कार्य करने को स्वच्छंद हैं। जालपा और रमानाथ के माता-पिता, रतन और वकील साहब, रमेश तथा रमानाथ के अन्य मित्र, जालपा के दोनों छोटे देवर, सभी अपने वास्तविक रूप में ही सामने आते हैं; यहाँ तक कि जालपा की माता के हाथ बिल्लौर का हार बेचनेवाले साधारण बिसाती और रमानाथ के हाथ सौदा करनेवाले सर्राफों को भी मनमाने हथकंडे दिखाने और अपनी लच्छेदार बातों में ग्राहकों को फँसाने की लेखक से पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। इनके चित्रण में लेखक ने किसी रेखा को हल्का बनाने की जरा भी आवश्यकता नहीं समझी है। सभी अपने गुण-दोष लेकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होते हैं और लेखक

अलक्ष्य चित्रकार की भाँति उनके कार्यों-व्यवहारों का यथार्थ अंकन करता चलता है। सभी पात्र उसकी उपस्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं और इसीलिए भला-बुरा कोई भी कार्य करने पर उनको जरा संकोच नहीं होता।

रमानाथ के घर से भागते ही पाठक की तरह लेखक भी सतर्क हो जाता है। अब वह जैसे अपनी तंद्रा से जागकर सजग होता है और एक बार पिछली घटनाओं की समीक्षा करके पात्रों के भावी जीवन का क्रम निर्धारित करता है। यद्यपि रमानाथ के चित्रण में आगे भी वह अपनी पूर्व नीति ही बनाये रखता है, पुलिस के अधिकारियों के भी वास्तविक दर्शन करता है; अपराधियों के घरों की निर्धनता, उनके परिवारवालों की निरीहता का करुण वर्णन करते समय भी पूर्ण निर्मम बना रहता है, भावुकतामय सहानुभूति को जरा भी पास नहीं फटकने देता; देवीदीन की स्त्री जग्गो की यंत्रचालित-सी जीवन-चर्या का भी वह यथातथ्य वर्णन करता है, और वेश्या जोहरा के रमानाथ को अटकाये रखनेवाले व्यवहारों के वर्णन में अपने व्यापक अनुभवों का परिचय देता है; तथापि 'गबन' उपन्यास का यह भाग यथार्थवादी चित्रण के अंतर्गत इसलिए नहीं आ सकता कि उक्त सभी पात्र इस भाग में सर्वथा गौण पद के अधिकारी हैं। इस अंश की वास्तविकता संचालिका है जालपा, जिसके चित्रण में लेखक का सारा ध्यान केंद्रित है और निस्संदेह लेखक ने इस युवती का चरित्र उपन्यास के इस भाग में आदर्श ढंग से चित्रित किया है। इस चित्रण की विशेषता यह है कि पाठक कहीं भी उसके आदर्श रूप को अस्वाभाविक नहीं समझता। ध्यान देने की बात यह है कि जालपा के जिन गुणों का विकास उपन्यास के इस भाग में दिखाया गया है, बीज-रूप में वे आरंभ से ही उसमें वर्तमान दिखाये जा चुके हैं। चंद्रहार न पाने पर किसी भी

गहने को न छूने की उसकी दृढ़ता, माता पिता की सहायता न स्वीकार करने का उसका स्वाभिमान, रतन के हाथ कंगन बेचते समय अपनी निर्धनता को गुप्त रखने का उसका कौशल, कंगन बेचकर आफिस में रुपये जमा कर देने की उसकी तुरत-बुद्धि आदि उसके स्वभाव के ऐसे गुण हैं जो परिस्थिति की ठेस लगने पर सहज ही जाग्रत हो जाते हैं और इनसे प्रेरित उसके कार्य हमारी दृष्टि में उसका आसन बहुत ऊँचा उठा देते हैं। जिस दिन उसके संपर्क में आनेवाली वेश्या जोहरा को उससे प्रभावित होकर जीवन-क्रम बदलते हम देखते हैं उस दिन तो हमारा मस्तक श्रद्धा से उसके आगे झुक जाता है और प्रेमचंद के इस चित्रण-कौशल पर हम मुग्ध हो जाते हैं।

दूसरी बात यह कि उच्च और मध्यवर्ग के चित्रण में लेखक ने यथार्थवाद का जितना सहारा लिया है, निम्नवर्ग के चित्रण में वह उतना ही आदर्शवाद की ओर झुकता रहा है। जैसे वह सिद्ध कर देना चाहता हो कि मानवीय गुणों की बपौती न तो वर्ग-विशेष की है और न जाति या जन्म की दृष्टि से ही उनका विकास होता है। रतन का संबंधी जहाँ उस विधवा का धन हड़पने का आयोजन करता है, वहीं वकील साहब का कहार अंत तक रतन की सेवा करता है। रमानाथ के सास-ससुर भी जहाँ उसकी खोज-खबर नहीं लेते, वहीं देवीदीन उसके लिए सर्वस्व अर्पित करने को प्रस्तुत हो जाता है। कलकतिया सेठ के धर्मा-डंबर की और नेताओं के देश-प्रेम की जो आलोचना देवीदीन ने की है, उसको ध्यान में रखते हुए और तुलनात्मक रीति से उसके मानवीय गुणों पर और देश के लिए अपने लालों का सहर्ष बलिदान कर देने की बात पर विचार करने से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

सारांश यह कि आदर्शोन्मुख उपन्यास होने पर भी 'गबन' को लेखक ने उन दोषों से सर्वथा मुक्त रखा है जिनके कारण आलोचक आदर्श से चिढ़ा करते हैं। इस उपन्यास में चित्रित उनका आदर्शवाद, यथार्थवाद की नींव पर खड़ा है, इसी से उसका पोषण हो रहा है और इसी कारण वह पाठक को खटकता नहीं, चमत्कृत कर देता है।

—: ० :—

खटकनेवाली कुछ बातें

(१) विवाह के पूर्व चन्द्रहार की बात लेकर जालपा की सखियों का वार्तालाप सरस नहीं हो सका। शाहजादी की कृत्रिम सहानुभूति भी अधिक रोचक नहीं बन सकी है।

(२) पुत्रों की मृत्यु के पश्चात् जालपा ही मुख्तार दीनदयाल की इकलौती कन्या है जिसे उन्होंने बड़े लाड़-प्यार से पाला है। खाने-पहनने के सभी सुख उसने देखे है। धूम-धाम और चाव-हौसले से उसका विवाह करके फिर माता-पिता उसे भूल गये; कभी बुलाने का नाम न लिया ; यहाँ तक कि देवीदीन खटिक को भी यह कहने का अवसर मिला कि यही दुनिया का दस्तूर है। दीनदयाल रहते हैं प्रयाग के समीप एक गाँव में और जालपा ब्याही गई है प्रयाग में। अधिक से अधिक दस कोस का फासला दोनो जगहो में होगा। फिर भी माता-पिता अपनी इकलौती लड़की को भूल गये, यह कैसे अचरज की बात है! ससुराल में पुत्री के सुख से रहने का सुखद समाचार पाकर स्नेहशील माता-पिता यदि उसे न बुलाएँ तो यह बात संभवतः अधिक न खटकेगी ; परंतु विवाह के तीसरे ही दिन जालपा के सभी गहने चोरी हो जाने की हृदय बैठा देनेवाली निष्ठुर सूचना पाकर भी मानकी और दीनदयाल हृदयहीन-से कठोर बने रहे, यह बात प्रसंग को अस्वाभाविकता को तिगुना कर देती है।

(३) आफिस से चार बजे लौटने पर रमा को पारसल मिलना (जो दो-ढाई बजे मिलना चाहिए था), फिर उसी दिन चार

बजे के बाद रमा का उसे लौटा देना (जब कि पोस्टआफिस तीन बजे के बाद पारसल स्वीकारता नहीं) साधारण भूलें हैं। रमा का पिता से ३०) की जगह २०) की नौकरी बताना कितनी हँसी की बात है और वह भी उस हालत में जब वे जानते हैं कि यह जगह ३०) की ही है। जन्माष्टमी के दूसरे दिन रमेश बाबू की छुट्टी है, पर दयानाथ पुत्र को नौ बजे ही फटकार कर दफ्तर चले जाते हैं और फिर रमा भी दफ्तर जाने की तैयारी करने लगता है। क्या इनके दफ्तर खुले हैं ? अट्ठारहवें परिच्छेद मे रमा 'कोई नौ बजे' घूम कर लौटता है ; परंतु लगभग आधे घंटे बाद जब वह रतन के घर जाने को तैयार होता है, तब उसकी घड़ी में साढ़े आठ ही बजे हैं। यह कैसे ?

(४) आफिस से रुपये लाकर रमा का घर में रखना और घूमने चल देना जँचा नहीं। रतन जब एक दिन पहले आकर रुपये ले जाने की याद दिला गयी थी और जिसकी चिंता में रमा दस दिन से बड़ा व्यस्त रहा है, उसी के लिए इतना निश्चिंत हो जाना खटकता है। यह ठीक है कि सभी को थोड़ी ही असावधानी से कभी-कभी भारी हानि उठानी पड़ती है, परंतु भूल का कारण पक्का होना चाहिए।

(५) कथोपकथन द्वारा सामयिक समस्याओं के संबंध में चलताऊ बातचीत इस कुशलता से करा देना कि पाठक को पक्ष-विपक्ष के तर्कों का परिचय मिल जाय और मूल प्रश्न के विषय में लेखक की सम्मति का पता लगे, उपन्यासकार के वर्णन-कौशल का परिचायक है। मूल प्रसंग से यह विवेचन भिन्न तो होगा, परंतु लेखक को ऐसी सामग्री जुटानी और स्थिति लानी चाहिए कि यह विषयांतर पाठक को अखरे नहीं ; अर्थात् मूल कथा का ही एक अप्रधान अंग जान पड़े। प्रेमचंद जी इस प्रसंग में कभी-कभी चूक गये हैं। उदाहरण के लिए अट्ठाहवें

परिच्छेद में वकील साहब रमा को देखते ही लड़कियों की अनिवार्य शिक्षा के प्रस्ताव-विषयक प्रश्न करने लगते हैं, जैसे राह ही देख रहे थे कि कोई आये और मैं दिल के गुबार निकाल डालूँ। लगभग डेढ़ पेज का लंबा लेक्चर वे झाड़ देते हैं, यद्यपि रात के दस बजे इन बातों के लिए न अवसर ही था और न उनके श्रोता रमानाथ को उनकी बातों में कोई आनंद आया; क्योंकि वह तो इस समय दूसरी ही चिंता में मग्न था।.......... उसका ध्यान झूले की ओर था—पृ० १०८।

(६) इक्कीसवें परिच्छेद में जालपा अनेक प्रमाण देकर पति के सामने यह बात सिद्ध कर देती है कि तुम मुझे नहीं चाहते, तभी तो अपने मन का भेद मुझे बताते नहीं; पर रमा आधे पेज लंबे उसके वक्तव्य का कोई उत्तर नहीं देता, जालपा कोई उत्तर चाहती भी नहीं और दोनों सो जाते हैं। कैसी विचित्र बात है! पति को चिंतित देख जालपा बार-बार यह सोचती है कि ये मुझसे कुछ छिपाते हैं। इनके मन में कुछ है जो मुझे बताते नहीं; पर स्वयं उससे जमकर कभी यह नहीं पूछती कि बताओ तुम क्या और क्यों सोचा करते हो? पति की दुश्चिंता देखकर पत्नी का इस तरह निश्चित रहना भी खटकता है।

(७) नयी बहू से ससुराल में थोड़ा परदा रखा जाता है, ठीक है। कुछ दिन ऊपरी टीमटाम भी रहता है। परंतु मध्यम वर्ग वाले न इस टीमटाम को निभा पाते हैं और न समझदार बहू ही घर की सच्ची स्थिति से ज्यादा दिन अपरिचित रह पाती है। इसलिए तीन-चार महीने, यहाँ तक कि साल भर तक एक ही घर में रह कर भी जालपा का यह भ्रम बना रहना कि सास-ससुर हैं तो धनी, पर कंजूस हैं—मेरे लिए खर्च नहीं करन चाहते—उसके समझदार होने में ही भ्रम पैदा करता है। घरवालों का रहन-सहन, चाल-ढाल, ओढ़ना-पहनना, खान-पान, मतलब

यह कि घर की आय-व्यय और सास-ससुर की प्रकृति का परिचय देनेवाली ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनसे आठ-दस दिन में ही घर की ठीक-ठीक स्थिति का पता जालपा को हो जाना चाहिए था। दूसरी बात यह कि पास-पड़ोस की सहेलियाँ भी इस काम में उसकी सहायता करने को स्वतः प्रस्तुत हो सकती थीं। अतः अंत तक जालपा का यह भ्रम बना रहना अचरज में डालने वाली बात है।

(८) जालपा से प्रथम परिचय में ही वकील साहब की युवती पत्नी रतन का पति-प्रेम, तान का होना जैसी बातों के संबंध में लगभग एक पेज की लम्बी गाथा गा देना कुछ खपा नहीं।

(९) हर नयी बात रमा के लिए चकित करनेवाली है। फिर भी कलकतिया पुस्तकालय में एक पत्र पर बहुत से आदमियों को झुके देख कर भी रमा का उत्सुक न होना भी खटकता है।

—:(*):—

परिशिष्ट एक

हिंदी उपन्यास का विकास

प्रथम विकास (सन् १८५० से १६०० तक)

भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से हिंदी में आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखने का सूत्रपात हुआ। तत्कालीन लेखकों ने एक ओर तो उपन्यासों से समृद्ध बँगला साहित्य से परिचय प्राप्त किया और दूसरी ओर अँगरेजी से। इन भाषाओं के उपन्यास मनोरंजन की दृष्टि से तो उत्तम थे ही, कला के नाते भी श्रेष्ठ समझे जाते थे। इनसे परिचय प्राप्त करके हिंदी लेखकों का एक वर्ग तो इन भाषाओं की रचनाओं का अनुवाद करने लग गया और दूसरा उन्हीं के ढंग पर मौलिक रचनाएँ तैयार करने में। पंडित राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'सावित्री', और 'मृण्मयी'; बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (१८६५), 'प्रमीला', (१८६६), 'जया' और 'मधुमालती' (१८६८) ; तथा बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'चित्तौरचातकी' नामक उपन्यासों का बँगला से अनुवाद किया। बाबू गदाधरसिंह-कृत 'बंगविजेता' और 'दुर्गेश-नंदिनी' के अनुवाद भी अच्छे हैं। पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा उनके सहयोगी दो-एक अन्य लेखक भी यही कार्य कर रहे थे। बँगला के अतिरिक्त उर्दू और अँगरेजी से भी कुछ उपन्यासों के अनुवाद इस समय के लेखकों ने किये जिनमें बाबू रामकृष्ण वर्मा के 'ठगवृत्तांत-माला' (१८२६), 'पुलिस वृत्तांतमाला', 'अकबर' (१८६०) और

'अमलावृत्तांतमाला' (१८६४) उल्लेखनीय हैं। संस्कृत की 'कादम्बरी' का अनुवाद बाबू गदाधरसिंह ने बँगला संस्करण के आधार पर किया था।

भारतेंदु-कालीन लेखकों का दूसरा उपन्यास-प्रेमी दल विभिन्न भाषीय मौलिक कृतियों तथा हिंदी में अनूदित उनके संस्करणों का अध्ययन करके उसी ढंग की मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करने को प्रवृत्त हुआ। इस क्षेत्र में काम करनेवालों में 'परीक्षागुरु' नामक उपन्यास के लेखक श्रीनिवास दास तथा 'नूतनब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' के लेखक बालकृष्ण भट्ट का नाम उल्लेखनीय है।

इन लेखकों की अनुवादित और मौलिक रचनाओं से इतना लाभ अवश्य हुआ कि आगे हिंदी लेखकों को सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य सामयिक समस्याओं पर परोक्ष रूप से विचार करने का एक मनोरंजक और कलापूर्ण ढंग ज्ञात हो गया, जिसका शिक्षित समाज पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और अँगरेजी उपन्यास-साहित्य के अध्ययन से स्वतंत्र और मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करने की प्रेरणा भी मिली।

(द्वितीय विकास—सन् १९०० से १९१५ तक)

हिंदी उपन्यासों के विकास का द्वितीय युग बाबू गोपालराम गहमरी के बँगला उपन्यासों के अनुवादों से आरंभ होता है। इन्होंने अपना यह कार्य सन् १९०० से पहले ही आरंभ कर दिया था। उस समय इनके 'चतुर चंचला' (१८९३), 'भानुमती' (१८९४) और 'नये बाबू' (१८९४) आदि अनुवादित उपन्यास सामने आये थे। इस नवीन युग में इन्होंने जो अनुवाद सामने रखे, उनमें 'बड़ा भाई' (१९००), 'देवरानी-जेठानी' (१९०१), 'दो

बहिनें' (१६०२), तीन पतोहू' (१६०४), 'सास पतोहू' आदि उल्लेखनीय हैं।

गहमरी जी के अतिरिक्त श्री उदितनारायण, पंडित ईश्वरी प्रसाद और पंडित रूपनारायण पांडेय ने बँगला के अनेक उपन्यास अनुवादित करके हिंदी पाठकों के सामने रखे। यहाँ तक कि सर्वश्री बंकिमचंद्र, रमेशचंद्रदत्त, चण्डीशरणसेन, शरच्चंद्र, चारुचंद्र और कवींद्र रवींद्र आदि बँगला के अनेक प्रमुख उपन्यास-लेखकों की सुन्दर रचनाएँ हिंदी में प्राप्त हो गयों।

बँगला के अतिरिक्त उर्दू, मराठी, अँगरेजी आदि अनेक देशी-विदेशी भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद करने की ओर भी हिंदी-लेखकों का ध्यान गया। ऐसे अनुवादकों में बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' और बाबू रामचंद्र वर्मा ने मराठी से 'छत्रसाल' का अनुवाद किया। गुजराती की कई रचनाएँ भी हिंदी में अनूदित की गयीं और अँगरेजी के अनुवादित उपन्यासों में 'लैला', 'लंदनरहस्य' तथा 'टामकाका की कुटिया' के नाम उल्लेखनीय हैं।

उक्त कृतियों में कई उपन्यास सुंदर हैं और उनकी शिक्षित समाज में बराबर प्रशंसा हुई है। परंतु धीरे-धीरे अनुवाद करने की परिपाटी इतनी प्रचलित हो गयी कि भले-बुरे का ध्यान किये बिना ही लेखक इस कार्य में जुट गये और देशी-विदेशी भाषा का जो भी उपन्यास उनके हाथ लग गया, उसी का अनुवाद उन्होंने कर डाला। इससे उपन्यास पढ़ने का शौक भले ही बढ़ा हो, जनता की साहित्यिक रुचि का परिष्कार नहीं हो सका।

इस युग के मौलिक उपन्यास-लेखकों में देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता और ब्रजनंदन सहाय का नाम प्रसिद्ध है। खत्री जी ने 'नरेंद्र-

मोहिनी', 'कुसुमकुमारी', 'वीरेंद्रवीर', 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता-संतति' आदि तिलस्मी और ऐयारी घटना-प्रधान उपन्यास लिख कर, साधारण मनोवृत्ति के पाठक पैदा करके काफी नाम और पैसा कमाया। गोस्वामी जी का कार्य साहित्यिक दृष्टि से खत्री जी से श्रेष्ठ है। 'तारा', 'चपला', 'तरुण-तपस्विनी', 'रजिया-बेगम', 'लीलावती', 'लवंगलता' 'हृदयहारिणी', 'लखनऊ की कब्र' इत्यादि इनके लगभग ६५ उपन्यासों में सजीव सामाजिक चित्र तो मिलते ही हैं, वर्णन भी चमत्कारपूर्ण और चरित्र-चित्रण स्वाभाविकता लिये हुए है। इनके कुछ उपन्यास ऐतिहासिक भी हैं। उपाध्याय जी ने भाषा के नमूने दिखाने के लिए 'ठेठ हिंदी का ठाठ', 'अधखिला फूल' और 'वेनिस का बाँका' नाम के उपन्यास लिखे। मेहता जी की रचनाएँ 'धूर्तरसिकलाल', 'हिंदू गृहस्थ', 'आदर्श दंपति', 'बिगड़े का सुधार', 'आदर्श हिंदू' आदि हैं और सहाय जी की 'सौंदर्योपासक और 'राधा-कांत'।

तृतीय विकास (सन् १९१५ से १९४७ तक)

हिंदी उपन्यासों के तृतीय विकासकाल की विशेषता यह है कि अनुवादरूप में दूसरी भाषाओं का कूड़ा-करकट हिंदी में जमा करने की प्रवृत्ति का प्रायः अंत हो गया। प्रथम और द्वितीय काल में तो अनुवादक जो उपन्यास पढ़ते या पा जाते थे उसी का उल्था हिंदी वालों के सामने रखना ही अपना कर्तव्य समझते रहे; परंतु इस काल मे अँगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, जापानी आदि विदेशी तथा बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं के प्रायः श्रेष्ठ उपन्यासों के ही अनुवाद हुए। सीधे अनुवादों के अतिरिक्त इन भाषाओं के उपन्यासों के आधार पर कुछ पुस्तकें स्वतंत्र रूप से भी लिखी गयीं। इस संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि बम्बई के 'ग्रंथरत्नाकर-कार्यालय' ने 'शरत्-साहित्य' के नाम से बँगला के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक

शरच्चंद की समस्त रचनाओं का जिस प्रकार हिंदी में प्रचार किया था, देशी-विदेशी अन्य सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाओं को उसी प्रकार हिंदी-संसार के सामने रखने से अनुवादकों और प्रकाशकों का कार्य सराहनीय समझा जायगा।

इस युग में मौलिक उपन्यासों की संख्या अनुवादको से अधिक है। वस्तुतः भाषा को अनुवादो पर नहीं, अपनी मौलिक रचनाओं पर ही गर्व होता है। प्रेमचंद इस युग के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' इत्यादि उनके उपन्यास हिंदी साहित्य की अमूल्य और स्थायी निधि हैं। इनमें भारतीय समाज के निम्न और मध्यम वर्गों की सामाजिक जीवन-कथा के साथ-साथ राजनीतिक चेतना के विकास का जो क्रमबद्ध इतिहास मिलता है, वह बड़े महत्व का है। बाबू जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली'; विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के 'माँ' और भिखारिणी'; प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा', 'विकास' और 'विजय'; भगवती चरण वर्मा के 'चित्रलेखा', चतुरसेन शास्त्री के 'परख' और 'हृदय की प्यास'; जैनेन्द्रकुमार के 'तपोभूमि' और सुनीता'; राजा राधिकारमणसिंह के 'रामरहीम', 'सूरदास' और 'टूटा तारा'; पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'बुधुवा की बेटी' इत्यादि उपन्यास इस युग की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। मनोरंजन और कला, दोनो दृष्टियो से इनमें अधिकांश रचनाएँ सफल हैं और हिंदी उपन्यासो के विकास का परिचय इनके बिना अधूरा ही समझा जायगा।

प्रायः इन सभी कृतियो में सामाजिक समस्याओं पर ही विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। वर्णन और प्रदर्शन की दृष्टि से ये रचनाएँ तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं जिनके लेखकों ने

पर्याप्त संयम से काम लिया है और यथार्थवाद के नाम पर सामाजिक कुरीतियों के अरुचिकर चित्र स्पष्ट रूप से पाठकों के सामने नहीं रखे हैं—केवल संकेत-रूप से ऐसी अस्पष्ट रेखाएँ सी खींच दी हैं कि चतुर पाठक लेखक का तात्पर्य सरलता से समझ लेता है। 'कंकाल', 'तितली', 'माँ', 'भिखारिणी', 'विदा', 'सुनीता', 'सूरदास', 'चित्रलेखा' आदि कृतियाँ इसी वर्ग की हैं। दूसरे वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं जिनके रचयिताओं ने कुरीतियों, पाखंडों और कुसंस्कारों के काले-काले निगेटिव सामने रखे हैं जिनके अनाकर्षक और भयावन होने के कारण पाठक उनमें रस नहीं ले पाता और इस प्रकार उनके पठन-पाठन से पड़नेवाले कुप्रभाव से बच जाता है। परंतु उनसे कभी-कभी उत्सुकता और जिज्ञासा इतनी बढती है कि पर्दे के पीछे की बात जानने के लिए पाठक अपनी दृष्टि को अधिक पैनी कर लेने की चाह करता है। 'भिखारिणी' और 'विजय' इसी ढंग की कृतियाँ हैं।

अंतिम वर्ग में उग्र जी के अधिकांश उपन्यास हैं जिनमें यथार्थता का ऐसा स्पष्ट चित्र खींचा गया है जो प्रभावोत्पादक होते हुए भी सुरुचिपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। फलस्वरूप उग्र जी की रचनाएँ लोकप्रिय तो खूब हुईं, तथापि उनका प्रवेश पाठको के उस क्षेत्र में अधिक नहीं हो सका जो शालीनता और सुरुचि का समर्थक रहा है। घर के बड़े बूढ़े ने यदि उनकी रचनाएँ पढ़ी तो समाप्त करके आवरण पर कागज की जिल्द चढ़ाकर उन्हे इस तरह बंद करके रख दिया कि लड़के-लड़कियों की निगाह कहीं उन पर न पड़ जाय और नवयुवक-नवयुवतियो ने यदि उन्हे प्राप्त कर लिया तो कोर्स की किताबों के बीच में रख कर इस तरह बुजुर्गों से बचाकर पढ़ा कि कहीं वे टोक न दें—ऐसी किताबें पढ़ी जा रही हैं! क्यों!!

इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासकारो में केवल बाबू वृंदावन

लाल वर्मा का नाम ही आदर के साथ लिया जाता है। 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' उनके पूर्व प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनका पर्याप्त आदर हो चुका है। इधर उन्होंने 'झाँसी की रानी', मृगनयनी' आदि रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जो सुंदर है। इस दिशा में 'प्रसाद' जी ने भी प्रयास किया था, परंतु हिंदी-जगत के दुर्भाग्य से उनका 'इरावती' उपन्यास अधूरा ही रह गया।

इस युग के ये मौलिक उपन्यास प्रायः उन सभी विशेषताओं से युक्त हैं जिनके लिए विदेशी रचनाएँ श्रेष्ठ समझी जाती हैं। इन उपन्यासों ने पाठकों की रुचि का परिष्कार किया है। कौतूहल-वर्द्धक कोरी घटना-विचित्रता से युक्त ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के स्थान पर हिंदी पाठकों का एक वर्ग सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक समास्याओं पर लक्ष्य रखने वाले इन उपन्यासों का प्रेमी हो गया है। चरित्र-विवेचना, कथोपकथन की स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता, अंतर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति और अंतर्भावों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या आदि विशेषताओं से युक्त होने के कारण हिंदी के उक्त उपन्यासों में अनेक विश्व-उपन्यास-साहित्य में ऊँचा स्थान पा सकते हैं।

आधुनिक काल [सन् १९३६ से]

पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में जिन नये-नये लेखकों ने इस क्षेत्र में सुंदर काम किया है, उनमें सर्वश्री यशपाल, गुरुदत्त, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', डा० देवराज आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्रत्येक की दो-दो चार-चार रचनाएँ अब तक सामने आ चुकी हैं जिनसे उनकी विचारधारा के विकास-क्रम का परिचय मिलता है। इनके अतिरिक्त और भी कई लेखक एक-एक, दो-दो उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र में प्रवेश पाने के अधिकारी हो चुके हैं। इनकी लगन और उमंग के साथ-साथ भारतीय जीवन की नयी

परिस्थिति को नये दृष्टिकोण से परखने की क्षमता देखकर बड़ा संतोष होता है, परंतु खेद इस बात का है कि इनमें से अधिकांश के लिए स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण के प्रति ऐसी उन्मत्त-कारिणी रुचि है जो स्वस्थ और संयमित प्रेम या संबंध की कदाचित् कल्पना के आनंद से भी उन्हें वंचित रखती है। न तो किसी उन्नतिशील राष्ट्र की भावी विभूतियों के हाथ में ऐसी अस्वास्थ्यकर कृतियाँ देना ही कल्याणकारी समझा जा सकता है और न उसके कलाकारों के लिए रंगीनी में रँगा रहना ही शोभा देता है। काल का चक्र वसंत की मादकता सबमें भरता है; परंतु हर समय उसका ही स्वप्न देखना प्राकृतिक दृष्टि से भी अस्वाभाविक ही समझा जायगा। सारांश यह कि हमारे उपन्यास-लेखकों में सहृदयता और कल्पना की प्रचुरता के साथ वह अंतर्दृष्टि भी विद्यमान है जो उपन्यास को सफल बनाने के लिए अपेक्षित है, तथापि हमारे अधिकांश नवोदित उपन्यास-लेखक कल्पना के सहारे पूर्व कृतियो में वर्णित समस्याओ को ही हेर-फेर के साथ अपनाकर प्रेम की उन्हीं वृत्तियो और अंतर्दशाओ के गंदे चित्र, स्वाभाविकता और यथार्थवाद के नाम पर खींच रहे हैं जिनके लिए हिंदी कविता किसी समय बदनाम हो चुकी है। पैनी अंतर्दृष्टि के स्वतंत्र उपयोग की सद्भावना के अभाव के साथ-साथ समकालीन समस्याओं के स्वतंत्र अध्ययन और मनन की भी हमारे नवोदित उपन्यास लेखकों में कमी है। उन्हे ध्यान रखना होगा कि केवल महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या अपना लेने से ही उपन्यास सफल या लोकप्रिय नहीं हो जाता और आज हिंदी के शिक्षित पाठक देशी-विदेशी लेखकों के अनुकरण मात्र—जूठन—से संतुष्ट भी नहीं हो सकते। अतः नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा के बल पर ही उन्हे प्रसिद्धि प्राप्त हो सकती है।

—:०:—

प्रेमचंद और उनकी हिंदी-सेवा

परिचय—प्रेमचंद जी का घरेलू नाम धनपतराय था। उनका जन्म सन् १८८० में, मध्यम श्रेणी के एक कायस्थ-कुल में हुआ था। काशी के निकट पाँडिपुर मौजे के लमही गाँव में उनके पिता अजायबलाल की कुछ जमींदारी थी जिसकी वार्षिक आय घर के खर्च के लिए पूरी नहीं थी। इसलिए उनके पिता डाकखाने में भी काम करते थे। जब प्रेमचंद सात वर्ष के ही थे, उनकी माता का देहांत हो गया। यद्यपि उनके पिता ने कुछ समय बाद दूसरा विवाह कर लिया, तथापि जननी के वात्सल्य से बालक प्रेमचद सदा के लिए वंचित हो गया। चौदह वर्ष की छोटी आयु में ही उसे पिता का भी वियोग सहना पड़ा। इस समय वह आठवीं या नवीं कक्षा में पढ़ रहा था।

बालक प्रेमचंद की शिक्षा पाँच वर्ष की अवस्था में घर पर एक मौलवी साहब की देखरेख में आरंभ हुई। अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु में उसने द्वितीय श्रेणी में मैट्रीकुलेशन परीक्षा पास की। कालेज में उन्होंने नाम अवश्य लिखाया, परंतु शुल्क से मुक्ति न मिलने के कारण इनकी पढ़ाई जमकर न चल सकी। पिता की मृत्यु इसके पूर्व हो ही चुकी थी और तभी से किशोर प्रेमचंद पर अपनी विमाता और उसकी संतान के पालन का कुछ भार आ पड़ा था जिसका निर्वाह उसने विद्यार्थी जीवन में ही घर से तीन-चार मील दूर एक वकील के यहाँ ५) मासिक की ट्यूशन करके किया था। मैट्रिक पास करने के पश्चात् आर्थिक स्थिति ने पढ़ाई छोड़ने पर उन्हे विवश कर दिया।

पुरानी पुस्तकों की एक दूकान पर अपनी एक पुस्तक बेचते हुए सौभाग्य से उनकी भेंट एक शिक्षालय के प्रधानाध्यापक से हो गयी। इसने उनको अपने यहाँ अध्यापक नियुक्त कर लिया। कई वर्ष बाद व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में इन्होंने इंटर और बी० ए० की परीक्षा पास की जिससे ज्ञानार्जन और अध्ययन के प्रति उनकी रुचि का स्पष्ट परिचय मिलता है।

प्रेमचंदजी का पहला विवाह पंद्रह वर्ष की ही अवस्था में हो गया था। इस पत्नी से उनका मन न मिला और सदैव के लिए वह मायके में ही छोड़ दी गयी और उसके जीवन-निर्वाह का प्रबंध कर दिया गया। पचीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने, पूर्व पत्नी के जीवित रहते हुए ही, शिवरानी नाम की एक बाल-विधवा से पुनः विवाह किया। इस संबंध से प्रेमचद जी जीवन भर सुखी रहे।

जीवन-निर्वाह के लिए अध्यापन-कार्य को प्रेमचंद जी पहले ही चुन चुके थे। कुछ समय बाद उन्हें सरकारी नौकरी मिल गयी और वे शिक्षालयों के सहायक निरीक्षक बना दिये गये। उस समय उनका जीवन सब भाँति सुखी था; परंतु नियति ने कुछ और दायित्व उन्हे सौंप रखा था जिसका निर्वाह तत्कालीन राजकीय शिक्षा-विभाग के पद पर रहकर हो सकना संभव न था। सन् १६२० में महात्मा गांधी ने गोरखपुर में एक भाषण दिया जिसमें देश-सेवा के लिए स्वदेश-प्रेमियों का आह्वान किया गया। प्रेमचंद जी पर इस भाषण का बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने शिक्षालयों के सहायक निरीक्षक का सम्मानित पद त्याग दिया। ऐसा करते समय उन्होंने देश और साहित्य की सेवा करना ही अपने भावी जीवन का ध्येय बनाया था।

परंतु उस समय हिंदी भाषा समाज में न तो साहित्य के लिए

इतनी भूख थी कि कोई उपन्यास-कहानी-लेखक उसी के बल पर सपरिवार जीवित रह सकता और न देश-निर्वाह की समस्या से ही वह उसको निश्चिन्त कर सकता। अतएव साहित्य-सेवा की आय से पूरा पड़ता न देखकर प्रेमचंद जी ने कानपुर के एक विद्यालय की प्रधान अध्यापकी स्वीकार की। यहाँ प्रबंधकों से उनकी नहीं पटी और यह कार्य भी उन्हें छोड़ना पड़ा। कुछ समय तक चर्खे आदि बेचकर उन्होंने काम चलाना चाहा; लेकिन इससे भी समस्या का स्थायी हल न निकल सका। तदनंतर वे काशी से प्रकाशित 'मर्यादा' नामक मासिक पत्रिका के संपादन - विभाग में पहुँचे। इस का संपादन करते समय अनेक साहित्यकारों से परिचित होने के साथ-साथ उनको अच्छी ख्याति भी मिली; परंतु अधिक समय तक वे यहाँ भी न रह सके। संपादकी छोड़कर वे काशी विद्यापीठ के प्रधानाध्यापक बने। यह कार्य भी थोड़े समय तक ही हो सका और एक दिन इसे भी छोड़कर शांति से साहित्य-सेवा करने के उद्देश्य से अपने गाँव पहुँच गये। परंतु विचारों ने फिर पलटा खाया और सन् १९२४ में उन्होंने लखनऊ से नव प्रकाशित पत्रिका 'माधुरी' के संपादन-विभाग में काम करना स्वीकार कर लिया। यह कार्य उनकी रुचि के अनुकूल था और लखनऊ का तत्कालीन वातावरण भी उन्हें प्रिय लगा। अतएव छह-सात वर्ष तक वे यहीं रहे।

सन् १९३१ में यहाँ से प्रेमचंद बनारस गये। उन्होंने अपना प्रेस खोला और मासिक 'हंस' तथा साप्ताहिक 'जागरण' नामक दो पत्र निकाले। वणिक-बुद्धि में कच्चे होने के कारण दोनों पत्रों में उन्हे घाटा हुआ। उन्हे बंद करके कुछ समय के लिए वे बंबई के सिनेमा-संसार में पहुँचे। यहाँ आमदनी तो बहुत अच्छी थी, लेकिन वातावरण उनकी रुचि के प्रतिकूल था और

प्रबंधकों की मनोवृत्ति बहुत निम्न स्तर की थी। अंत में केवल पैसे को ही जीवन का सब-कुछ न समझनेवाले प्रेमचंद जी ने सिनेमा-संसार से भी विदा ली और बनारस लौटकर पुनः 'हंस' का प्रकाशन प्रारंभ किया। सन् १९३६ में उनका देहांत हुआ।

साहित्य-प्रेम—विद्यार्थी जीवन से ही ललित-साहित्य के अध्यापन की ओर प्रेमचंद जी का झुकाव था। स्कूली पुस्तकों से अधिक आनंद उपन्यास-कहानियों में सभी विद्यार्थियों को आता है, परंतु प्रेमचंद जी की इनमें इतनी रुचि थी कि नियमित पाठ को किनारे रखकर वे देशी-विदेशी ललित साहित्य का अध्ययन किया करते थे। इन्होंने 'मेरी पहली रचना' में स्वयं लिखा है—'मौलाना शरर, पं० रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली आदि उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके उपन्यास धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक था। हजरत रियाज ने, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका हाल में देहांत हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था। उसी जमाने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवधपंच' के संपादक स्व० मौलाना सज्जाद हुसेन ने, जो हास्य रस के अमर कलाकार है, रेनाल्ड के एक दूसरे उपन्यास का अनुवाद 'धोखा' या 'तिलस्मी फानूस' के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी जमाने में पढ़ीं और पं० रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी। उनकी सारी रचनाएँ मैंने पढ़ डालीं'।

देशी-विदेशी छोटे-मोटे सैकड़ों उपन्यासों के अतिरिक्त,

जिनमें 'तिलिस्म होशरुबा' जैसा कई हजार पृष्ठों में प्रकाशित उपन्यास भी था, अनेक पुराणों के उर्दू अनुवाद भी उन्होंने पढ़े थे। ललित साहित्य के अध्ययन का यह व्यसन प्रेमचंद जी में जीवन भर बना रहा। जड़ और चेतन जगत के प्रति उनके दृष्टि-कोण को व्यापक बनाने का बहुत-कुछ श्रेय उनके इस व्यसन को भी है।

साहित्य-रचना—प्रेमचंद जी का लेखन-कार्य उर्दू से आरंभ हुआ। सन १६०० में उन्होंने स्व० रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानियों का अनुवाद किया। इसी वर्ष उनकी सर्वप्रथम मौलिक कहानी, 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' उर्दू के प्रसिद्ध मासिक पत्र 'जमाना' में प्रकाशित हुई। 'कृष्णा' नामक उपन्यास उन्होंने दूसरे वर्ष और 'वरदान' उपन्यास १६०२ में लिखा। तीन वर्ष बाद उनके 'प्रेमा' ('हम खुरमा व हम सबाब') और १६०६ मे 'प्रतिज्ञा' उपन्यास प्रकाशित हुए। १६०८ तक उनकी कई मौलिक कहानियाँ 'जमाना' में छप चुकी थीं जिनमें से पाँच का संग्रह 'सोजे वतन' के नाम से जमाना-प्रेस से ही प्रकाशित हुआ। इन कहानियों न तत्कालीन अँगरेजी शासन की कड़ी आलोचना थी और लेखक था राजकीय कर्मचारी। फल यह हुआ कि जिले के अधिकारी ने 'सोजे वतन' की सारी प्रतियाँ नष्ट करवा दीं। प्रेमचंद जी के हृदय में विदेशी शासन के प्रति घृणा का जन्म उसी समय से हुआ और पद त्याग देने का भी विचार उनके मन में उसी समय से आया। फिर भी उर्दू में साहित्य-रचना का क्रम सन् १६१४ तक पूर्ववत् चलता ही नहीं रहा, प्रत्युत उसकी गति में तेजी भी आ गयी। इतने समय की साहित्य-साधना के कारण प्रेमचंद जी की गणना उर्दू के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों में होने लगी।

हिंदी के क्षेत्र में—सन् १६१० के आस-पास प्रेमचंद जी ने

अपनी कहानियों और उपन्यासों का रूपांतर हिंदी में करना-कराना आरंभ किया। यों उन्होंने हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। १९१५ में उनका 'सेवासदन' नामक मौलिक सामाजिक उपन्यास हिंदी में प्रकाशित हुआ। इस कृति ने हिंदी के समस्त प्रेमियों का ध्यान आकर्षित कर लिया और उनकी गणना हिंदी के श्रेष्ठतम कथाकारों में की जाने लगी। उसके पश्चात् आजीवन वे हिंदी-साहित्य की सेवा में लगे रहे।

प्रेमचंदजी ने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं। उपन्यासों से अधिक इनकी कहानियों का प्रचार है और उनमें उपन्यासों से अधिक मार्मिकता भी है जो हृदय की चुटकी लेती है। संपूर्ण जीवन की समस्त परिस्थितियों की मार्मिक विवेचना इनकी कहानियों में मिलती है और जिन कहानियों में हर्ष-शोक, सुख-दुख, ममता-कर्तव्य आदि विपरीत भावों का द्वंद्व है, वे बड़ी उच्चकोटि की हैं।

उपन्यास के क्षेत्र में भी इन्होंने मौलिक और आदर्श कार्य किया। हिंदी के, वास्तव में सर्व-प्रथम साहित्यिक उपन्यास लेखक ये ही हैं। मौलिकता की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है। इनके उपन्यास हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। सबसे महत्वपूर्ण कार्य, इस क्षेत्र में इनका यह है कि तत्कालीन उपन्यासों और कहानियों के क्षेत्र में उन्होंने युगांतर उपस्थित किया। इनके पहले भी हिन्दी में उपन्यास लिखे गये थे; उनका प्रचार भी बहुत हुआ था। उनसे यद्यपि पाठकों का मनोरंजन अवश्य होता था, तथापि उनमें जनता की रुचि को उन्नत बनाने अथवा उसमें संस्कार ने की क्षमता नहीं थी। यह कार्य प्रेमचंदजी की कृतियों ने किया; कथा-कहानियों को सुन्दर साहित्यिक रूप देकर जनता की रुचि को इन्होंने उन्नत किया।

प्रेमचंद ही हिंदी के ऐसे प्रथम कहानी और उपन्यास-लेखक हैं, जिनकी साहित्यिक और मौलिक कृतियों का उर्दू, मराठी, गुजराती, जापानी, अँगरेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अब तक हमने इन भाषाओं की कहानियों और उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद किया था। कह सकते है कि प्रेमचंदजी ने इस ऋण को अदा करने की ओर कदम बढ़ाया था।

प्रेमचंद जी के प्रायः सभी उपन्यासों और अधिकांश कहानियों में पाठक के लिए कुछ न कुछ उपदेशात्मक संदेश अवश्य हैं और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक प्रायः सभी कुरीतियों की उन्होंने आलोचना भी की है। परन्तु इसके लिए उन्होंने ऐसे मीठे ढंग को अपनाया है कि उससे पाठक का मनोरंजन होता है, किसी प्रकार की कटुता का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार उनकी रचनाओं में 'शिवं-सुन्दर' का मणि-कांचन-संयोग है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी हिंदी के लेखकों में इनका विशेष स्थान है। इनके सब पात्र स्वच्छन्द जीवित नर-नारी हैं। ज्ञात पड़ता है कि उनको उन्होंने बोलने-चलने-फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी है और जो वे कहते हैं उसी का चित्र ये खींचते जाते हैं।

उनकी रचनाओं की एक और विशेषता है। इन्होंने न तो 'उग्र' जी का तरह यथार्थ के नाम पर सामाजिक नग्नचित्र खींचे हैं और न आदर्श के पीछे पड़कर वे उपदेशक ही बन गये हैं। एक निपुण चित्रकार की तरह उन्होंने यथार्थ का उतना ही चित्रण किया है जितना विषय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है और कुशल कलाकार की तरह आदर्श को भी उतना ही संकेत किया है जितना सहृदय समाज के लिए उपयोगी है।

अंतिम बात यह है कि प्रेमचंदजी जनता के साहित्यकार हैं। उनके प्रधान उपन्यासों और अधिकांश कहानियों का विषय उन दीन-हीन निर्धन, निरीह कृषकों की ग्राम-समस्या है जिसका सम्बन्ध समाज और राजनीति, दोनों से है। उन्होंने पूँजीपतियों का गुणगान न करके इन दीन-दुखियों को अपनाया है। इससे हमें उनकी विशाल हृदयता का पता हो सकता है। जिस दिन हमारे किसान शिक्षित होंगे उसी दिन प्रेमचंद जी का वास्तविक मूल्य हमें मालूम होगा, तभी वास्तव में उनका सम्मान होगा, क्योंकि उन्हें प्रेमचंद जी की कृतियों में वह चीज मिलेगी जो हिंदू-समाज को तुलसीकृत रामायण में मिलती है।

प्रेमचंद की रचनाओं का सारे भारत में प्रचार हुआ है; जनता ने उनका हृदय से स्वागत किया है। हमारे साहित्यिक भी उनका हृदय से सम्मान करते हैं। हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं ने उन्हे अपना सभापति तो नहीं बनाया और न उनकी रचनाओं को पुरस्कृत ही किया, फिर भी सभी हिंदी-भाषियों के हृदय में प्रेमचंद जी ने घर कर लिया है और प्रतिदिन उनकी रचनाओं का प्रचार बढ़ता जाता है। उनके 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास पर हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग से ५००) का पुरस्कार मिला था।

—: ० :—

'रसवंती'

कविता, कहानी, गद्यकाव्य, एकांकी, जीवनी, संस्मरण, स्केच, डायरी आदि ललित साहित्य के सभी अंगों से युक्त मासिक पत्रिका। प्रत्येक रचना सरस, सुरुचिपूर्ण और मनोरंजक।

प्रधान संपादक

डा० प्रेमनारायण टंडन, पी-एच० डी०

मासिक 'रसवंती' अक्टूबर, १९५७ से प्रकाशित हो रही है। इसका द्विवार्षिक शुल्क बारह रुपए, वार्षिक सात रुपए और छमाही चार रुपए है। नमूने का अंक ६० नये पैसे मिलने पर भेजा जाता है।

व्यवस्थापक 'रसवंती'
विद्यामंदिर, रानीकटरा,
लखनऊ